शूद्र मुक्ति

श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों आम्नाओं के मत भेद-विषयों के मूल कारणोंकी खोज करने और उसपर निष्पक्ष विचार प्रगट करने की आवश्यकता हमने हमारे 'स्त्री-मुक्ति' लेख मे बताई थी हमने दोनों आम्नाओं के पण्डितों, साधुओं तथा त्यागियो से यह भी प्रार्थना की थी कि जैनधर्म की रक्षा के लिये स्थान २ पर तत्व निर्णयके अखाड़े खड़े करदें जिससे साधारण बुद्धिका मनुष्य भी सत्यको असत्यसे पृथक् करके सत्यको ग्रहण करले और असत्य को त्याग दे। मानवलोक में एक नव युगका अभ्युदय होगया है, अन्धविश्वास और तद्वचन प्रमाणम्से अब काम नहीं, चलने का, दमननीति और बहिष्कार प्रयोग अब स्वतन्त्र विचार तथा सत्यवाद को कदापि नही दबा सकेगा। जैनसमाजके शुभेच्छुओंका परम कर्त्तव्य यही है कि विचार स्वातन्त्र्य और निष्पक्ष तर्कणाके औज़ारोंसे पक्षपात तथा कषायजनित मतभेदोंके फोडोंको चीर दे, एव सत्य निर्णयकी मर्हमसे घावोंको भरकर धर्माङ्गों को स्वस्थ और अविकल बनादें। इसी कर्त्तव्यवश आज हम 'शूद्र-मुक्ति' पर विवेचन करते हैं।

स्त्रीकी तरह शूद्रको भी दिगम्बर आम्नायमें मुक्तिका निषेध किया है और जिन दीक्षासे वर्जित रक्खा है! दिगम्बर मतकी चारित्रश्रेणी के अनुसार शूद्रोंको बारहवी प्रतिमा एवं क्षुल्लक ऐलक पदके अधिकारी रक्खे हैं। परन्तु त्रि-वर्ण के क्षुल्लकोंमें और शूद्र क्षुल्लकों मे इतना विशेष भेद और किया गया है कि त्रिवर्णके क्षुल्लक जैसे श्रावकों के घर पर भोजनालयमें यथाविधि आहार-पान कर सकते हैं उस तरह शूद्र क्षुल्लक नही कर सकता। उसको एक लोहका पात्र रखना होगा जिसमें वह अपने भैक्ष्यको लेकर दातारके गृह द्वारपर अशन करले। दिगम्बर मतानुसार शूद्र पञ्चम गुणस्थान से आगे नहीं चढ सकता।

श्वेताम्बर आम्नायमे शूद्रोंको महाव्रत ग्रहण करने और जिनलिङ्गी साधु होने का अधिकार दिया गया है, यहां तक कि चाण्डाल भी मुनि होकर मुक्त हो सकता है। केशी ऋषि स्वपच शूद्र थे ऐसा श्वेताम्बर मतानुयायी सप्रमाण मानते हैं। श्वेताम्बर आम्नाय के साधु सङ्घमे अब भी शूद्र महात्मा ढूंढनेसे मिल सकेंगे, परन्तु वर्त्तमान सामाजिक व्यवहारानुसार किसी भङ्गी, धोबी, चमारादि को कोई श्वेता-

श्वर गुरुदीक्षा देकर केशी ऋषिके आदर्श का जीवित उदाहरण दिखलावेंगे इसमें हमको सन्देह है। अस्पर्श जाति के शूद्र मुनि तथा अन्य मुनियों की गोचरी आदिके विषयमें वर्ण-भेद सूचक व्यावहारिक नियम हमको इस आम्नायमें नहीं मिले। केशी ऋषिके बारेमें हमने एक दफ़ा पूज्य खरतरगच्छीय मुनि शिवजी रामजीके मुखसे सुना था कि—"उक्त ऋषि अपनी गोचरी सङ्घ से अलग बैठकर करते थे और सङ्घके साधुओंको यह कहा करते थे कि मैं आपके समान कुलमे नहीं जन्मा, इसलिये मेरा आहार-पान अलहदा होना ही उचित है।" पूज्य शिवजी गुरुवर्य्यका यह कथन किस ग्रन्थके आधारपर है सो हमको मालूम नहीं, आशा है कि श्वेताम्बर-मती पाठक केशी ऋषिके जीवनचरित्रको विस्तार सहित प्रकाशित करके इसपर प्रकाश डालेंगे, कुछ भी हो, इस कथनीसे इतना तो स्पष्ट होता है कि सङ्घके नियमोंसे शूद्र मुनि पृथक् बैठकर आहार पानादि करनेको वाध्य नहीं, यह उनकी मर्ज़ी है कि वह खुद ही ऐसा करे। और ऐसा तो त्रिवर्ण का मुनि भी अपनी किसी विशेष भाव-शुद्धि के अर्थ कर सकता है।

अस्तु, शूद्र मुनिके साथ सङ्घका व्यवहार त्रिवर्णी मुनियों के समान हो वा न हो परन्तु इसमे ज़रा भी सन्देह नहीं कि श्वेताम्बर मुनि सङ्घ में स्पर्श तथा अस्पर्श दोनों ही प्रकारके महाव्रती शूद्र प्रविष्ट हो सकते हैं और दोनों ही षष्ठादि गुणस्थान एव मोक्ष प्राप्ति की योग्यता रखते हैं, ऐसा श्वेताम्बर सम्प्रदायका मत है।

परन्तु पाठकों को ज्ञात होगा कि "शूद्र" शब्द करणानुयोग और कर्म-तत्व ज्ञानकी चर्चामें उपयुक्त नहीं हुआ है किन्तु चरणानुयोग वा आचारांग से इसका सम्बन्ध है। करणानुयोगमें गोत्रकर्म दो प्रकारका कहा गया है, एक उच्चगोत्र, दूसरा नीचगोत्र। अतएव 'शूद्र' की परिभाषा करणानुयोग के अनुसार क्या हो सकती है यह विचारणीय विषय है। क्या 'शूद्र' और 'नीचगोत्र' पर्यायवाची हैं? एवं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ये तीनों वर्ण 'उच्चगोत्र' के एकार्थवाची हैं अथवा और कुछ? करणानुयोगमें चतुर्वर्ण-व्यवस्थासे गुणस्थान क्रम, क्यों नहीं बांधा गया? इत्यादि बातोंका पहिले निर्णय करना आवश्यक है तभी यह कहा जा सकता है कि शूद्र-मुक्ति की विधि सिद्धान्तानुकूल है वा विरुद्ध है। यहांपर पाठकों को इतनी बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि पांचवें गुणस्थान में दुर्भग, अनादेय और अयशस्कीर्ति इन तीन प्रकृतियों का उदय नहीं है; और षष्ठ गुणस्थान में नीचगोत्रका उदय नहीं होता, नीचगोत्रकी उदय व्युच्छित्ति पञ्चम गुणस्थान में ही होजाती है। अतएव यदि 'शूद्रत्व' और 'नीचगोत्र' 'त्रि-वर्णीयता' और उच्चगोत्र समानार्थक हों, एवं नीचगोत्रसे उच्चगोत्र

तथा उच्चसे नीच परिवर्तित न हों तो शूद्र के षष्ठादि गुणस्थान की सम्भवना करणानुयोगसे सिद्ध नही हो सकती। एतदर्थ हमको प्रथम गोत्र कर्म और गोत्रके लक्षणादि पर विचार करना चाहिये।

गोम्मटसारमें 'गोत्रकर्म' के कार्य दर्शानेके लिये निम्नलिखित गाथा है—

सताण कमेणागय जीवायरणस्स गोदमिदि सण्ण। उच्च णीचं चरणं उच्चं णीचं हवे गोदं॥ (कर्मकाण्ड १३) सन्तान क्रमेणागत जीवाचरणस्य गोत्रमिति संज्ञा। उच्चं नीचं चरणं उच्चैर्नीचैर्भवेत् गोत्रम्॥ १३॥

अर्थ—सन्तानक्रम अर्थात् कुलकी परिपाटीके क्रमसे चला आया जो जीवका आचरण उसकी गोत्रसंज्ञा है। उस कुल परम्परा में ऊँचा आचरण हो तो उसे उच्च गोत्र कहते हैं, जो नीचा आचरण हो तो वह नीचगोत्र कहा जाता है।'

गोत्र के इस लक्षण पर गौर करते हैं तो यह लक्षण सदोष मालूम होता है, और ऐसा प्रकट होता है कि कर्म-भूमिके मनुष्यों की विशेष व्यवस्था पर लक्ष्य रखकर सामाजिक व्यवहार दृष्टि से इसकी रचना हुई है। गोत्रकर्म अष्टमूल प्रकृतियों में से है और इसका उदय चतुर्गतिके जीवों में कहा गया है। नारकी और तिर्यञ्चोंके नीचगोत्र, देवोंके उच्चगोत्र और मनुष्योंके उच्च और नीच दोनों गोत्रोंकी सम्भावना सिद्धान्तमें है। देव वा नारकी का उपपाद जन्म होता है, वे किसीकी सन्तान नहीं होते और न कोई उनका नियत आचरण है, गाथोक्त गोत्र का लक्षण इन दोनों गतियोंमें किसी तरह से भी लागू नहीं होता। इसी तरह एकेन्द्रियादि सम्मूर्छन जीवोंमें भी यह लक्षण व्यापक नहीं। इसके अलावा आचरण शब्द भी मनुष्यों ही के व्यवहारका अर्थ-वाची है और मनुष्यों ही की अपेक्षा से उक्त लक्षणमें उपयुक्त हुआ है। आचरणके साथ उच्चत्व और नीचत्व की योजना भी मानवापेक्षित ही है। पाठकोंको विदित होगा कि अमीर, गरीब, दुखिया, सुखिया, नीच, ऊंच, सभ्य, असभ्य, पण्डित, मूर्ख इत्यादि द्वन्द्व हैं और ये द्वन्द्व ऐसे दो परस्पर विरोधी गुणोंके द्योतक हैं जिनका अस्तित्व निरापेक्ष नहीं किन्तु अन्योन्याश्रित है। अतएव मनुष्यगतिको छोड़कर शेष तीन गतियोंमें जो गोत्रका एक २ प्रकार माना गया है वह अपने प्रतिपक्षी के सत्वका सूचक और अभिलाषी है। यदि देवों में नीच गोत्रका, और नारकी तथा तिर्यञ्चोंमें उच्चगोत्र का सम्भाव नहीं है तो इन गतियोंमें गोत्रका सर्वथा ही अभाव मानना पड़ेगा, क्योंकि द्वन्द्व-गर्भित एक प्रतिपक्षी गुण का स्वतन्त्र सद्भाव किसी तरह से भी सिद्ध नही होता। उक्त गतियोंमें गोत्रके दो प्रकारोंमें से एक विशेषकी नियामकता कहनेका यह अर्थ होता है कि, इन गतियोंके जीव अपने स-

लोक समुदायमें समानाचरणी हैं, उनमें भेदभाव नहीं; और जब भेदभाव नहीं तो उनको उच्च वा नीच किसकी अपेक्षासे कहा जाय, वे खुद तो आपस में न किसी को नीच समझते न उच्च; उनमें नीच और उच्च का ख़याल होना ही असम्भव है। इसी ख़यालसे भोग-भूमियों के भी उच्चगोत्र ही कहा गया है। इससे स्पष्ट है कि गोत्र का लक्षण मनुष्यों की व्यवहार-व्यवस्था के अनुसार बनाया गया है, और जिस २ गतिके जीवोंको मनुष्योंने जैसा समझा अथवा उनके व्यवहार की जैसी २ कल्पना की, उसीके अनुसार उन गतियोंमें उच्च वा नीचगोत्र की सम्भावना मानी गई है। चतुर्गति के जीवों में बन्धोदय सत्त्वको प्राप्त होने वाले गोत्रकर्म तथा उसके कार्यस्वरूप गोत्रका लक्षण और उदय जिस प्रकार से प्रत्यक्ष ज्ञाता दृष्टा सर्वज्ञने कहा हो वह इस गाथासे प्रकट नहीं होता। इस लक्षणके मुताबिक गोत्रकर्मका उदय मनुष्यो ही में मिलेगा और अन्य गतियों के जीवोंको आठ कर्मों की जगह सात ही का उदय मानना पड़ेगा।

जैन सिद्धान्तियों में गोत्र और गोत्र कर्मके विषय में जो प्रचलित मत है वह मनुष्यों ही के व्यवहारों तथा कल्पनाओंसे बना है, इसके विशेष प्रमाणमें निम्नलिखित ऊहापोहकी बातें पाठकोंके स्वयं विचारार्थ उपस्थित करते हैं।

१—भवन-वासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक, इस प्रकारसे देवोंके चार निकाय जैनधर्म में कहे हैं। इन चारो प्रकारके देवों मे इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, परिषद्, आत्मरक्ष, लोकपाल, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्विषिक, ऐसे दश भेद होते हैं। इनमे से जो देव घोड़ा, रथ, हाथी, गन्धर्व और नर्त्तकी के रूपों को धारण करते हैं वे अनीक, जो देव हाथी, घोड़ा, वाहन बनकर इन्द्र की सेवा करते हैं वे आभियोग्य कहलाते हैं; और जो इन्द्रादिक देवोंके सन्मानादिक के अनधिकारी, इन्द्रपुरीसे बाहर रहनेवाले तथा अन्य देवोंसे दूर खड़े रहने वाले (जैसे अस्पर्श शूद्र) हैं वे किल्विषिक देव हैं। यहां अपने आप यह प्रश्न होता है कि किल्विषिक जातिके देवोंको अन्य प्रकारके देव अपनी अपेक्षा नीच समझते है कि नहीं, यदि नीच नहीं समझते तो किल्विषिकोंको अमरावती से बाहर दूर क्यों रहना पड़ता है और वे अस्पर्श क्यों हैं। एवं अनीक तथा आभियोग्यके आचरण शेष सात प्रकारके देवोंकी दृष्टिमें उच्च हैं वा नीच। देवोंके दश प्रकार के भेद और उनके उक्त प्रकार के व्यवहारों से तो साफ प्रगट है कि उनमें नीच और उच्च दोनों ही प्रकार के आचरणवाले जीव होते हैं, फिर जैन सिद्धान्तियोंने देवगति में नीचगोत्र का उदय क्यों नहीं कहा। पाठक विचारें।

२—इसमें कुछ विशेष कहनेकी ज़रूरत नहीं की असुर, राक्षस, भूत, पिशाचादि देवोंके आचरण महान् घृणित और नीच माने गये हैं और वे वैमानिक देवों की समानता नहीं कर सकते। यदि गोत्र के उच्चत्व नीचत्व में जीव का आचरण मूल कारण है तो वैमानिकोंकी अपेक्षा व्यन्तरादिका गोत्र अवश्य नीच होना चाहिये। देवमात्रको उच्चगोत्री कहना जैन सिद्धान्तियोंके गोत्र के लक्षणसे विरुद्ध पडता है।

३—पशुओंमें सिंह, गज, जम्बुक, भेड, कुक्कुर आदि के आचरणों में प्रत्यक्ष भेद है। वीरता, साहस वगैरह गुणोमें सिंहको मनुष्योंने आदर्श माना है, किसी दूसरेकी मारी हुई शिकार और उच्छिष्टको सिंह कभी नही खाता और न अपने वारसे पीछे रहे हुए पशुपर दुवारा आक्रमण करता है। जैनाचार्योंने १०० इन्द्रोंकी सख्यामे सिंहको इन्द्र कहा है, यथाहि "भवणालय चालीसा वितर देवाणं हन्ति बत्तीसा। कप्पामर चउवीसा चन्दो सूरो णरों तिरऊ।" इसका क्या कारण है कि आचरणोंमें भेद होते हुए भी तिर्यञ्चमात्रको समानरूपसे नीचगोत्री कहा गया।

४—नारकियोंमे ऐसे जीव भी होते हैं जिनके तीर्थङ्कर नाम कर्म का बन्ध होता है, क्या वे जोव भी अन्य नारकियोंकी तरह नीचाचरणी ही होते हैं? सर्व नारकी जीवों का समान नीचचरणी और नीचगोत्री होना समझमें नही आता।

५—कुभोग-भूमिके मनुष्य नानाप्रकारकी कुत्सित आकृतियोंके होते हैं और सुभोग भूमिकी अपेक्षा यह भी कहा जायगा कि वे कुभोगके भोगी हैं। क्या कुभोग भूमि और सुभोग-भूमि के जीवों के आचरणों में फ़र्क नही होता यदि होता है तो फिर अखिल भोग-भूमि-भव उच्चगोत्री ही क्यों कहे गये?

इन सब बातोपर विचार करनेसे यही मालूम होता है कि गोत्रकर्मके विषयमें जैनोंका जो सिद्धान्त है वह केवल मनुष्योंका, और मनुष्योंमें भी भारतवासियोंका व्यवहार मत है। भारतीयलोग सब प्रकारके देवी देवताओंकी उपासना करते हैं, भूत, पिशाच, यक्ष, राक्षस, कोई भी हो सबके देवालय भारतमें मौजूद हैं, सबके स्तोत्र पाठ सस्कृत भाषामें हैं और उनके भक्त अपने २ उपास्योंका कीर्तन करते हैं। इसलिये जैनोंने देवमात्रको उच्चगोत्री कहा है, क्योंकि वे मनुष्योंसे उच्च और शक्तिशाली एवं अनेक इष्टानिष्टके करनेमे समर्थ माने गये हैं। पशु और नारकियोंको कोई मनुष्य अपनेसे अच्छा नही समझता, न उनके गुणावगुण पर विचार करता, इसलिये मनुष्योंके साधारण ख़यालके मुताबिक तिर्यञ्च और नरक गतिमें एकान्त नीचगोत्रका उदय बताया गया। यदि चतुर्गति के जीवोंके आचरण और व्यवहारों

को दृष्टिसे रखकर गोत्रके लक्षण तथा उदय-व्यवस्थाका वर्णन होता तो उसमें 'सन्तान कमेणागय' पदकी योजना कभी नहीं होती, और न देव, नारकी तथा तिर्यञ्च गतिमें एकान्तरूपसे एक ही प्रकारके गोत्रका उदय कहा जाता।

गोत्रके लक्षणकी उपरोक्त आलोचना करके हमने यह दिखला दिया है कि यह लक्षण मनुष्यों की व्यवहार-स्थिति के अनुसार बनाया गया है। इस लक्षण से निम्नलिखित बातें और निकलती हैः—

(१) जीवका वही आचरण गोत्र कहा जायगा जो कुल परिपाटी से चला आता हो अर्थात् जो आचरण कुलकी परिपाटीके मुआफिक न होगा उसकी गोत्र संज्ञा नहीं है और वह गोत्रकर्मके उदयसे नहीं किन्तु किसी दूसरे ही कर्मके उदयसे माना जायगा।

(२) हरेक आचरणके लिये कुल विशेषका नियत होना जरूरी है और हरेक कुल के लिये किसी विशेष आचरण का।

परन्तु, जैनधर्म में मानव समाजके विकास का जो वर्णन है वह कुछ और ही बात कहता है, उसको यदि सही मानते हैं तो यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि भरतक्षेत्र में एक समय ऐसा था जब मनुष्यों में न तो कोई कुल थे और न उनकी परिपाटीके कोई आचरण थे, इसलिये उस समयके जीवोंके गोत्रकर्म का उदय भी नहीं था। वर्तमान अवसर्प्पिणीके प्राथमिक तीन आरों में भोग-भूमिकी रचना थी; भोग-भूमियोंमें कुल नहीं होते, कुलकरोंका जन्म तीसरे कालके आखीर में होता है। इस प्रकार कुलोंके अभावमें भोग-भूमियाके आचरणोंकी गोत्रसंज्ञा नहीं कही जायगी। यदि ऐसा कहा जाय कि समस्त भोग-भूमियोंका एक ही कुल था और उनके आचरण समान थे इसलिये भोग-भूमियों के गोत्र का सद्भाव था, तो आगे कुलकरों, तीसरे कालके अन्तके भोग-भूमियो तथा कर्मभूमिके आदिके मनुष्यों में गोत्रका अभाव स्वयमेव सिद्ध होता है; क्योंकि इनके आचरण इनके पूर्वजों से सर्वथा भिन्न और विरुद्ध थे। इसको हम नीचे स्पष्ट करते हैं।

भोग-भूमिया मनुष्य न खेती करते थे, न मकान बनाते थे और न भोजन-वस्तु पकाते थे; वे अपनी सब आवश्यकताएँ कल्प-वृक्षोंसे पूरी करते थे। इसीलिये उनमें असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, सेवा और शिल्पके कर्म-व्यापार भी नहीं थे। उनको आपसमें किसी से कुछ सरोकार नहीं था, अपने २ युगल के साथ अपनी कल्प तरु वाटिका में सुखभोग करते थे। अतएव न कोई उनका समाज था और न कोई सामाजिक बन्धन। उनमें विवाह संस्कार नहीं होता था; एक ही माताके उदरसे नरमादाका युगल उत्पन्न होता था, जब यौवनवन्त होते थे तब दोनो बहिन

और भाई स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध कर लेते थे। युगल के पैदा होते ही उनके माता पिता का देहान्त होजाता था। इस प्रकार युगल-मनुष्यों की समान जीवन-स्थिति उस समय तक जारी रही जब तक कि कल्पवृक्षों की कमी न हुई। तीसरे आरे के अखीर में कल्पवृक्षों की न्यूनता से लोगो ने अपने २ वृक्षों का ममत्व कर लिया और कई युगल वृक्षों के लिये आपस मे क्लेश करने लगे। तत्पश्चात् परस्पर के झगड़े निपटाने के लिये उन युगलियों ने अपने में से एक युगल को न्यायाधीश बनाया जो पहिला कुलकर हुँआ और उसीके वंशज आगेको न्यायाधीश तथा दण्डनीत विधायक होते रहे। इन्ही कुलकरों की सन्तान श्रीऋषभदेव तीर्थंकर हुए जिन्होने षट्कर्म की शिक्षा दी; उनके उपदेश से प्रथम पांच कारीगर बनेः—१ कुम्भकार, २ लोहार, ३ चित्रकार, ४ वस्त्र बुननेवाले, ५ नापित अर्थात् नाई। ऋषभदेवने ही विवाह विधि चलाई और सगे बहिन भाई में स्त्री-भर्तार का सम्बन्ध होना बन्द किया।

इस कथन के मुआफ़िक जिस २ भोग-भूमिया ने अपनी सहोदरा को छोड़कर दूसरी स्त्री से विवाह किया, अथवा ऋषभदेवजी की शिक्षा पाकर कुम्हार, लोहार आदिके काम को किया, उसका आचरण उसके माता पिताके आचरणोंसे बिल्कुल ही विपरीत और निराला था; अर्थात् उसका आचरण अपने कुल की परिपाटी के अनुसार नहीं था, इसलिये वह गोत्र-कर्म के उदय से नहीं किन्तु किसी अन्य ही कर्मोदयका फल था। अतएव कर्म-भूमिकी आदिमें जो मनुष्योंके आचरण थे उनकी गोत्रसंज्ञा नही कही जा सकती और उस समयके सब लोग गोत्र-कर्मोदय रहित थे। आठ कर्मोंकी जगह उनके सात ही का उदय था। गोत्र-कर्म का उदय उनकी सन्तान के माना जायगा जिन्होंने अपने आचरण माता पिता से प्राप्त किये और उन्ही का पालन किया। यदि उस समय किसी नाईके लड़केने खेतीका काम किया और नापितके कार्यको न सीखा तो उसका भी आचरण 'सन्तान क्रमागत' न होने से गोत्रसंज्ञक न होगा, उसके भी गोत्रकर्माभाव ही कहा जायगा। ऐसे सन्तान क्रम रहित आचरणोंके लिये कर्म तत्व-ज्ञानमें कौनसा विशेष कर्म है सो ज्ञानी पाठक खुद विचारें; अष्ट कर्मके उपरान्त तो कोई कर्म नही कहा गया और इन मूलोत्तर प्रकृतियोंको इनके लक्षणानुसार उक्त सन्तान-क्रम-रहित आचरणों के कारण कह सकते नही।

'सन्तान क्रमगत' पदपर एक शङ्का यह और होती है कि जिस भोग-भूमिया की सन्तानने ऋषभदेवजी की शिक्षानुसार अपने पूर्वजों के आचरणों को छोड़कर नवीन आचरण ग्रहण कर लिये, उसके पुत्र का आचरण पिता के अनुकूल होने पर

'सन्तान क्रमागत' कहा जायगा कि नहीं, अर्थात् एक ही पीढ़ी के आचरण को 'सन्तान क्रमागत' कहेंगे वा नहीं मूलतः प्रश्न यह है कि कितनी पीढ़ीका आचरण 'सन्तान क्रमागत' कहा जा सकता है। इसका ब्योरा किसी ग्रन्थमें देखने में नहीं आया।

अब ज़रा आचरणकी उच्चता नीचता पर विचार कीजिये। आचरण शब्द से असलियत में आचार्योंका क्या अभिप्राय है सो साफ २ कहीं नहीं खोला गया। यदि 'आचरण' शब्द से हिंसा, झूंठ, चोरी; सप्त व्यसन आदि मे प्रवृत्ति अथवा निवृत्तिसे मतलब है तब तो गोत्र के उक्त लक्षणानुसार ऐसा मानना पड़ेगा कि दो तरह के कुल यानी वंश क्रम होते हैं, एक वे जिनमें हिंसादि आचरण वंश परम्परा से नियत रूप से कभी हुए ही नहीं, अतएव उनमे उत्पन्न हुए जीव उच्चगोत्री कहलाते हैं; दूसरे वे कुल जिनमें हिंसादि आचरण नियत रूप से परम्परा से होते आये हैं, इसलिये उनमें जन्म लेनेवाले जीव नीचगोत्री होते हैं।

चतुर्गति के जीवों का विचार न करके मनुष्यों का ही विचार करें तो ऐसे उच्चाचरणी नीचाचरणी नियत कुलों का कर्म-भूमिके आदिमें सर्वथा अभाव था। भोग-भूमियोंमे तो ऐसे नियत कुल थे ही नहीं, अतः नियत कुलोंके अभावमे युगादि में सब मनुष्य गोत्र तथा गोत्रकर्म रहित थे। जैन ग्रन्थों मे इस बातका ब्यौरा कहीं भी नहीं है कि अमुक अमुक कुल तो हमेशाके लिये उच्चाचरणी हैं और अमुक अमुक नीचाचरणी। तदुपरान्त युगान्तरों तक उन कुलों मे निरन्तर एक ही प्रकार का आचरण रहे इसकी गारण्टी क्या किसी भी कुलमे एक ही तरहका आचरण निरन्तर बना रहेगा ऐसा मानना प्रकृति और कर्मसिद्धान्त के प्रतिकूल है, प्रत्यक्ष से बाध्य है किसी जीव के आचरण उसके पिता व पूर्वजों के अनुसार अवश्यमेव ही हों, ऐसा मानना एकान्त हठ है।

यदि आचार्योंका यह अभिप्राय हो कि उक्त हिंसादि आचरणोंमें प्रवृत्ति और उनसे निवृत्ति जीविका के षट्कर्म तथा पेशों से नियोजित है; कई पेशे और कर्म तो ऐसे हैं जिनके करने वाले नीचाचरणी नहीं होते और कई ऐसे हैं जिनको करनेसे जीव नीचाचरणी हो ही जाता है अथवा नीचाचरणी ही उस पेशे को करता है, उच्चाचरणी नहीं। प्रयोजन यह हुआ कि कई पेशोंके साथ उच्चाचरण का अविनाभावी सम्बन्ध है और कतिपय के साथ नीचाचरण का। इसमे, कई अनिवार्य्य शङ्काएँ पैदा होती हैं। चतुर्गतिके जीवोंकी अपेक्षा तो यह सर्वथा असम्भव है। मनुष्यों की अपेक्षा लीजिये। (क) भोग-भूमियोंके कोई पेशे वा जीविका कर्म नहीं थे अतः वे सब निराचरणी तथा गोत्रकर्म रहित कहे जायँगे। यह प्रचलित गोत्रोदय मत से

विरुद्ध पड़ता है। (ख) षट्कर्म्म और पेशोंका उपदेश आदि तीर्थंकरने दिया था और उन्होंने ही कारीगरी तथा शिल्पके कार्य सिखाये थे, अन्नादिका अग्निमें पकाना भी उन्होंने ही सिखाया। वे अवधिज्ञानी और मोक्ष-मार्गके आदि विधाता थे; यदि उच्चाचरणी और नीचाचरणी दो प्रकारके पेशे वास्तवमें होते तो वे नीचाचरणके पेशोंको कभी नहीं सिखाते और न किसीको उनके व्यापारका आदेश करते जान बूझकर वे जीवोंको पापमें न डालते, प्रत्युत सबको ही उच्चाचरणी पेशोंकी शिक्षा देते। जीविका कर्म्म और पेशोंके साथ उच्चाचरण और नीचाचरणके सम्बन्ध की योजनासे भगवान् ऋषभदेवपर बड़ा भारी दूषण आता है। इससे यही कहना पड़ेगा कि या तो उच्चाचरण और नीचाचरण का सम्बन्ध पेशोंसे है नहीं और यदि है तो षट्कर्म्म और भिन्न २ शिल्पके कार्योंकी शिक्षा ऋषभदेवजीने नहीं दी किन्तु प्रकृति विकाशके नियमानुसार शनैः २ जनताकी ज़रूरतोंसे कभी क्या और कभी क्या नये २ आविष्कार होते रहे जैसे आजकल होते हैं। ऋषभदेवजी का चलाया हुआ कोई भी पेशा नीचाचरणका नहीं हो सकता, तदनुसार कुम्हार, जुलाहा, लुहार, नाई सब उच्चगोत्री हैं, पेशेकी अपेक्षा ये लोग नीचाचरणी नहीं, अथवा यों कहिये कि कुम्हार आदिके पेशे ऋषभदेवजीने नीचाचरण वा नीचाचरण के कारण नहीं समझे और न ऐसा किसीको प्रगट किया। तदनुसार जीविका कर्मकी अपेक्षासे ऋषभदेवजी की दृष्टिमें न कोई उच्चगोत्र था, न नीच। पाठक विचार करें कि ऐसी अवस्थामे उच्च और नीच आचरणोंके नियत कुलोंका सर्वथा अभाव है कि नहीं; फिर गोत्र और गोत्रकर्म्मकी क्या बात रही। (ग) जैनधर्म्ममें प्रथमानुयोगके अनुसार जिन कुलों में क्षात्रकर्म्म होता है वे उच्चगोत्र कहे जायँगे। इसका यह अभिप्राय होता है कि जिन कुलोंमे परिपाटी से क्षात्र-कर्म्म होता है उनमें उत्पन्न होने वाले जीवोंके आचरण नियमतः उच्च ही होने चाहियें, तभी आचरण और जीविका-कर्म्ममें अविना-भावी सम्बन्ध माना जा सकता है। परन्तु कथा पुराणों मे इसके विपरीत हजारों उदाहरण मिलते हैं। रावण क्षत्रिय कुलोत्पन्न तीन खण्ड का राजा था, उसने सीता परस्त्री का हरण किया जिसके कारण लाखों जीवों क रणमें खून हुआ। युधिष्ठिरादि पाण्डव और कौरव क्षत्रियोद्भव थे उन्होंने जूआ खेला और व्यसनको यहा तक निभाया कि द्रौपदी स्त्री को भी दावमें लगाकर हार बैठे। पाठक, ज़रा विचारिये कि क्या ये आचरण उच्च थे! हमने ये उदाहरण दिग्दर्शन-मात्र

को लिख दिये हैं वरना पुराणोंमें अगणित मिसालें मौजूद हैं जिनसे विदित होगा कि क्षत्रियोंमें ही अधिकतर नीचाचरणी हुए हैं। ऐसी अवस्थामे पेशेके साथ आचरणों का स्थिर सम्बन्ध कैसे माना जा सकता है।

उपरोक्त बातों से यह साफ़ हो जाता है कि लोक में न तो ऐसे कोई कुल ही हैं जिनके लिये यह कहा जा सके कि उनमें उच्च वा नीचाचरण हमेशा के लिये परिपाटीसे चला आता है, और न जीविका-कर्म्म वा पेशों के कुलों से आचरणोंका अविनाभावी सम्बन्ध सिद्ध होता।

अतः गोम्मटसारमें जो गोत्र का लक्षण है और जैनसिद्धान्तियोंने गोत्र कर्म्मोदय-व्यवस्था जैसी मानी है, ये सब प्रकृति-विकास के विरुद्ध हैं; ये सार्वकालिक और चतुर्गति के जीवों पर दृष्टि रखकर नहीं बनाये गये, किन्तु भारतवासियो के व्यवहार और ख़यालों के अनुसार इनकी कल्पना हुई है। अमुक प्रकार के कुल जैसे ब्राह्मणादि नियम से उच्चाचरणी ही होते आये हैं और होते रहेंगे, इनमें उत्पन्न हुए जीवोंको उच्च ही मानना; एवं इनसे इतर कुल जैसे कुम्भकारादि शिल्पकार, नापित प्रभृति सेवा कर्मी नीचाचरणी हैं, इनको सदा सर्वदा के लिये नीच ही मानना, नीचता उच्चता जन्म से है, गुण स्वभाव से नहीं; एक कुल जातिका कर्म्म दूसरे कुल जातिवाला न करे, इत्यादि धारणाएं भारत में ही हज़ारों वर्षोंसे अचल रूप से चली आरही हैं। इन्हीं वंश परम्परागत धारणाओं और व्यवहारों के मुताबिक जैनाचार्यों ने गोत्र-कर्म्म का लक्षण रचा है।

गोम्मटसार के अलावा सर्वार्थ सिद्धि, राजवार्तिक आदि तत्वार्थ सूत्र की टीकाओं में जो उच्च और नीच गोत्र का लक्षण लिखा है उससे भी यही निःसन्देह प्रतीत होता है कि गोत्र-कर्म्म की योजना जैन विज्ञों ने कर्म्म-सिद्धान्त में भारतीय मनुष्यों ही के विचार से की है; चतुर्गति के जीवों मे यातो गोत्र-कर्म्म और गोत्र का सद्भाव नहीं और है तो वह क्या है, उसका लक्षण इन प्रचलित शास्त्र मतों की व्यवहार रूढ़ि से नहीं मिल सकता। टीकाकार आचार्य सब यही लिखते हैं कि, "जिसके उदय से लोक पूज्य इक्ष्वाकु आदि उच्चकुलों मे जन्म हो, उसे उच्च गोत्र कर्म कहते हैं, और जिसके उदय से निन्द्य, दरिद्री अप्रसिद्ध दुःखों से आकुलित चांडाल आदि के कुल में जन्म हो, उसे नीच गोत्र कर्म कहते हैं।" पाठक देखलें कि ये लक्षण चतुर्गति के जीवों में कैसे क्या एक हो सकते हैं।

परन्तु, पाठक, गोत्र कर्म असलियत में है कुछ जरूर उसके अस्तित्व को हम इनकार नहीं कर सकते, चाहे लौक व्यवहारी जैनाचार्योंके निर्दिष्ट लक्षण में हम उस का यथावत् स्वरूप नहीं पाते और अनेक अनिवार्य शंकाएँ होती हैं तथापि प्रकृति-विकास में उसकी खोज करने से हम गोत्र और गोत्र कर्म के शुद्ध लक्षण तक पहुंच सकते हैं। इसलिये हम कुछ विचार प्रकृति-विकास के विषय में प्रकट करते हैं। पाठक इसको विषयान्तर न समझें, यह प्रकृत विषय की सिद्धि का सम्बद्ध-हेतु प्रतीत होगा।

सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में ईश्वर-कर्तावाद सर्वथा युक्ति-शून्य और अविश्वासनीय सिद्ध हो चुका। किसी सत्ता विशेष ईश्वर स्वरूप ने सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, मनुष्य, नाना प्रकार के पशु, जीव जन्तु आदि अनन्त अपरिमित पदार्थों को रचा और प्रकट किया, ऐसा मत अब तत्व-निर्णय की कसौटी पर बेरंग साबित हो-चुका। बौद्ध और जैनों से इस मत की जड़ें ढीली हुई थीं और अब आधुनिक विज्ञान ने इस ख़याल को मूल से उखेड कर फैंक दिया है। इस कर्तावाद खण्डन के साथ २ परमाणु-वाद और सृष्टि-विकास के सिद्धान्तों ने अपना जोर पकडा है; अब इन्हीं की जय होती जारही है। जैनों ने कर्तावाद का खण्डन किया, सत्य सिद्धान्त बताया परन्तु सृष्टि की उत्पत्ति के प्रश्न की समस्या पीछे के आचार्यों ने कथागढन्त में डाल दी। इससे शुद्ध सिद्धान्त भी बेजोड़ असम्बद्ध होगया। क्या कर्तावादी और क्या अकर्तावादी दोनों ही इसमें सहमत हैं कि समष्टिगत प्रलय अवश्य होता है। वस्तुतः व्यष्टि और समष्टि दोनों ही उत्पत्ति और विनाश के नियमों से बाध्य हैं। व्यक्ति-गत उत्पाद और व्यय समष्टिगत उत्पाद व्यय को स्वयं सिद्ध करता है। प्रलय में शका किसी को नहीं, परन्तु प्रलय के पश्चात् क्या अवस्था होती है और सर्वथा आत्यन्तिक नाश के पीछे फिर से दुनियां कैसे पैदा होजाती है इस समस्या मे सब चकराते हैं। कर्ता-वादी लोगों ने तो ईश्वर को रचयिता मानकर यह अन्धविश्वास किया कि परमेश्वर वा ब्रह्मा सब पदार्थों को एक साथ पैदा कर देता है; इन ईश्वर वादियों ने यहां तक कह डाला कि नर नारियों के जोड़े, सृष्टि के प्रारम्भ मे, ईश्वर आकाश से पृथ्वी पर डाल देता है और उनकी सन्तानों से सृष्टि का विस्तार हो जाता है। अब ऐसे विश्वास-मत बाल-मोहिनी कथाओं से अधिक महत्व नहीं रखते। इस विषय में जैनियों के जो श्रद्धान हैं वे भी निरे बेसिर पैर के हैं और कर्ता-वादियों ने जैसी बेतुकी बातें हाँकी हैं वैसी ही जोड़ की कल्पनाएँ जैनों ने भी की हैं। जैनाचार्यों का यह मत है कि प्रलय

होती है तब अग्नि-वृष्टि आदिक होती हैं और सब देहधारी नष्ट होजाते हैं। ऐसे घोर प्राकृतिक विप्लव के समय कई मनुष्यों को देवता लोग अपने पूर्व-भव के सम्बन्ध से अन्यत्र-कहीं उठा कर ले जाते हैं और प्रलय-शान्ति के पश्चात् वापिस वहीं ले आते हैं। उन्हीं की सन्तानों का फिर विस्तार होने लगता है। प्रलय को स्वीकार करते हुए भी जैन मती चन्द्र, सूर्यादि ग्रह नक्षत्र, मेरु आदि पर्वत एवं विदेहादि देशों को नित्यावस्थित मानते हैं और कहते हैं कि उक्त प्रलय सिर्फ भरत और ऐरावत क्षेत्र में ही होती है, अन्य असंख्य द्वीप द्वीपान्तर प्रलयकाल से बहिर्भूत हैं। ऐसा प्रकृति-विरुद्ध क्यों, इसका जैन ग्रन्थों में कहीं युक्त उत्तर नहीं मिला, और न इसी शंका का उत्तर मिला कि प्रलयकाल में देव विद्याधर का नियमित रूप से आना क्योंकर माना जावे। एवं मनुष्यों को तो देवों ने ही बचा लिया परन्तु असंख्य पशु पक्षी कैसे बचते हैं, उनकी सृष्टि किस तरह होती है, उनके जोड़ों को तो देव विद्याधर उठा कर ले ही नहीं जाते। इससे तो ईसामतानुयायी ही कल्पना में चतुर निकले जो ईश्वर के कोपवश महान् संसार व्यापी जल विप्लव होने पर नूह पैगम्बर की नौका की रक्षा ईश्वर की कृपा से बताते हैं और कहते हैं कि ईश्वर की आज्ञा से नूह ने सब प्रकार के पशु पक्षियों के जोड़े अपनी नौका में रख लिये थे, उन्हीं से सृष्टि विस्तार फिर से हुआ हिन्दुओं के मत्स्यावतार की कथा भी नूह की कथा के सदृश है। देवों द्वारा मनुष्यों की रक्षा होती है यह कथनी शायद मत्स्यावतार की कथा के आधार-पर गढ़ली गई हो, क्योंकि जैन धर्म्म में अनेक बातें इधर उधर से मिलाई गई हैं। तात्पर्य हमारे कहने का यह है कि, जैनी लोग चाहे भरत ऐरावत क्षेत्र की ही प्रलय मानें, परन्तु प्रलय के बाद फिर से सृष्टि कैसे चलती है इसका बुद्धि ग्राह्य उत्तर और समाधान जैन धर्म के प्रचलित शास्त्रों में नहीं है। देवता विद्याधरों को कारण बताने वाली कथनी सर्वज्ञ कथित नहीं हो सकती। जिस २ घटना का कारण कर्तावादियों ने ईश्वर अथवा ब्रह्मा आदि को बताया है उसी को जैनाचार्यों ने इन्द्र और देवों से होना बताया है। जैन धर्म के मूल सिद्धान्त की बात इसमें नहीं रही। यह तो केवल नामों का ही फेरफार कर लिया।

अब विकासवाद की सुनिये। आधुनिक भूगर्भ विद्या, खगोल और ज्योतिः शास्त्रज्ञों ने यह साबित कर दिया है कि यह पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र और अन्य ग्रह नक्षत्रादि नित्य अनादि अवस्थित नहीं हैं। इनकी वर्तमान आकृति परमाणुओं के संघटन से हुई है। पहिले एक बड़ा भारी अग्निपिण्ड था वह टूट पड़ा। पृथ्वी उसका

खण्ड है। हजारों वर्ष तो जिसके ठण्डे होनेमें लगे होंगे। लोक में यही एक सौरचक्र नही है किन्तु ऐसे सौरचक्र असख्य हैं। यह सौरचक्र जिसमें हमारी पृथ्वी है एक और वडे सौरचक्र के चारो तरफ घूमता है जिसका सूर्य हर कुलिश (Hercules) है वह इस सूर्यसे वेहद वडा है। विज्ञानियोने ऐसे यन्त्र भी बनाये हैं जिनसे वे इन नक्षत्रों को प्रत्यक्ष देखते और दिखाते हैं। इन नक्षत्र ग्रहों में इनकी आवोहवा के अनुसार जीव जन्तुओं की उत्पत्ति का विकास और ह्रास हुआ है। जिस पृथ्वी में हम रहते हैं इसमें लाखों वर्षों से परिवर्तन होते रहे हैं। विज्ञानियों ने अपनी खोजों से यह सिद्ध किया है कि वर्त्तमान मे मनुष्य, पशु तथा असंख्य जीव जन्तुओं की जो सृष्टि इस पृथ्वी (भूगोल) पर है वह एक साथ उत्पन्न नही हुई और न उक्त देहधारियों के देहाकार सहसा इसी रूप में प्रगट हुए जैसा कि हम आजकल देखते हैं। इन लोगों का यह कहना है कि मनुष्य देह ने आधुनिक स्वरूप कई पशु-तनों में से विकसित होते हुए प्राप्त किया है। इसी तरह आधुनिक वृक्षों ने भी विकास पाया है। इनके पूर्व कितनी पर्यायें विकसित हुई थी, और द्रव्य क्षेत्र काल के परिवर्तन से जीवन-संग्राम मे किस प्रकार उनने विकास पाया, एवं कौन कौन सी पर्यायें जीवन संग्राम में वची और कौन २ नष्ट लुप्त होगई, इन सब का विवरण विकासवादी विज्ञानी देरहे हैं। ये लोग प्रत्येक जीव-जाति के देह-विकास का इतिहास वताते हैं। और उनसे विकास के नियम भी आकृष्ट करते हैं। इन्हीं नियमों के आधार पर ये लोग समाज-विकास शास्त्र भी रच चुके हैं, और इन्हीं नियमों से एक जाति की वनस्पति से उसी की अनेक रूपान्तरित वनस्पतियाँ पैदा करते हैं। इनसे स्पष्ट प्रत्यक्ष विदित होता है कि मूल जाति से किस क्रम तथा तारतम्य में विकास होते हुए एक नवीन ही स्वरूपाकार उत्पन्न होजाता है जो अपनी जननी आदि-जाति से गुण में भी कतई भिन्न होता है। अतएव सृष्टि की उत्पत्ति का कूट प्रश्न इस तरह से युक्ति-युक्त हल होजाता है कि मूल में परमाणुओं का संघटन होता है और उसके वाद सूक्ष्म तत्व, स्थूल तत्व का विकास होकर सङ्घटन, विघटन पारस्परिक घर्षण तथा आकर्षण से अनेक अनन्तानन्त पर्यायें उत्पन्न होती रहती हैं, जिनका विकास जीवन संग्राम में परिपक्व एवं दृढ़ होजाता है वे वच जाती हैं शेष का अस्तित्व नही रहता।

यद्यपि विकासवाद ने पौद्गलिक पर्यायों की उत्पत्ति के प्रश्न का समाधान कर दिया परन्तु यह सिर्फ़ जड़वाद ही रहा। इसने आत्मा और जीव के विकास पर विचार नही किया। मनुष्यों की वाह्य परिस्थिति की भिन्नता तथा दुःख सुख के कारण

परन्तु यह विकास-वाद कोई नवीन तत्व ज्ञान नहीं है। भारत में तीन हज़ार वर्ष पहिले कपिल, गौतम और कणाद ऋषियो ने प्रकृति-विकास और परमाणु विषयक तत्व ज्ञान को प्रकट करके सृष्टि-विकास का क्रम यथार्थ बतला दिया था। उन्होंने जड़-प्रकृति-परमाणुओं की संयुक्त आकृति-विकास के साथ २ प्रकृति से भिन्न चिदानन्द ज्ञाता स्वरूप पुरुष का भी अस्तित्व और पुरुष प्रकृति के संयोग का ही सब सृष्टि खेल निर्धारित किया। आधुनिक विकास-वाद गौतम और कणाद के परमाणु-वाद का विस्तृत तथा विशद स्वरूप है, इसको विज्ञान की अनेक शाखाओं के वृद्धिङ्गत ज्ञान से पुष्टि मिली है, परन्तु चैतन्य-विकास पर इसका लक्ष्य यथावत् नही पहुंचा जैसा कि भारतीय विकास-विज्ञानी कपिलादि का पहुंच चुका था।

अब हमको यह देखना है कि जैन तत्व-ज्ञानमे और अध्यात्मवादमे विकास-वाद है कि नहीं, या जैनधर्म सिर्फ़ बेतुकी कल्पनाओंका संग्रह है। कथाओं और कल्पनाओं से पृथक् करके जैनधर्म के अध्यात्मवाद और षड्द्रव्य सम्बन्धी तत्व ज्ञानपर विचार करते हैं तो हमको भली भाँति यह निर्णीत होजाता है कि सांख्य, न्याय और वैशेषिक दर्शनों के विकास-सिद्धान्तों का पुनर्जन्म जैन दर्शन में हुआ है। इस पुनर्जन्म में पूर्वोक्त दर्शन सिद्धान्तों ने विस्तार एव वृहदाकार प्राप्त किया है। जैन तत्वज्ञों का कर्म-सिद्धान्त और पुद्गल-स्कन्ध-विवेचन साफ़ तौर से दर्शा रहा है कि प्रकृति और चैतन्य के विकास से सृष्टि की उद्भूति है। यह सृष्टि-विकास जब किसी सीमा तक पहुंच जाता है तो षड गुणी हानि वृद्धि के क्रमानुसार प्रलयगत भी होजाता है। और फिरसे सङ्गठन का प्रारम्भ होने लगता है। यह चक्र अनादि निधन है। यद्यपि यह सब कुछ जैनों की तत्व-विद्या में मौजूद है तथापि सृष्टि-विकास का क्रम खुले तौर से जैन शास्त्रों में कहीं नहीं मिलता; इसका कारण यह है कि हिन्दुओं के पौराणिक गल्प-संग्रह को जैनों ने अपना लिया और उसको जैन-श्रुत का अनुयोग रूप अङ्ग बनाने के लिये शुद्ध तत्व ज्ञान की भी बलि कर डाली। कर्म-सिद्धान्त मे भी ऐसी २ बातें जोड़ दी गई जो पौराणिक गल्पों से सम्बन्ध रखती हैं। अतएव जैन तत्व-ज्ञान को शुद्ध रूप में निकाल कर विकास-वाद और विज्ञान से मिलान करते हुए चले जायँ तो अविरुद्ध सत्यार्थ निकलता जाता है।

हम यहांपर इसी विकास विषयक ऐसी बातें लिखते हैं जो हमारे लेखसे सम्बन्ध रखती हैं और जिनसे गोत्र कर्म्मका यथार्थ समझमें आजाता है। सूक्ष्मसे स्थूलमें विकास होता है, अर्थात् सृष्टि-विकास में प्रथम सूक्ष्म शरीर होते हैं जो

भू, जल, अग्नि, वायु तत्वोंके होते हैं। जिस २ शरीरमें एक तत्वकी मुख्यता और इतर का गौणत्व होता है वह शरीर उसी तत्व-कायका कहलाता है। इसके बाद ऐसे ही स्थूलोंका आकार प्रगट होता है। इन कार्योंकी अवगाहना-विकासकी भी वृद्धि होती रहती है इसके पीछे वनस्पति कायका सूक्ष्म और स्थूलरूप उत्पन्न होता है और फिर शनैः २ जलचर, थलचरादि पैदा होते हैं। मनुष्य देहका विकास सब के पीछे होता है। इन सब शरीरों की विकासावगाहना की सीमाएँ भी होती हैं। इन शरीरोंके आश्रयसे ही आत्म-विकास होता है। आत्म-विकास और पौद्गलिक देह-विकास समवायी हैं, या यों समझिए कि उपरोक्त पौद्गलिक शरीर आत्म-विकास के क्षेत्र हैं। इनकी पर्यायों में होकर पिण्ड-मय आत्मा अपना विकास करता है। इसलिये आत्म-विकासकी अपेक्षा लेकर इन पर्यायोंकी श्रेणियां ज्ञानियोंने छांट ली हैं और उनको चौरासी लाख योनियोंके नामसे बतलाया है। ये पर्यायें इतनी ही हैं या कमोबेश इसकी समीक्षा इस लेखमें नहीं हो सकती। यहां इतना ही कह देना बस होगा कि हरएक कायकी श्रेणीमें आनेवाली जितनी भी शारीरिक पर्यायें हैं उनमें परस्परमें भी जीवन-संग्राम होता है और पर-काय की देहोंमें भी होता रहता है। इस संग्राममें ही आत्मा का ज्ञान-विकास होता है और कर्म्म-वर्गणाओं का सत्व गिरता चला जाता है। एक कायमें जितना जीवन संग्राम और ज्ञान-विकास हो सकता है उस सीमाको पूरी किये बिना आत्मा उच्च काय श्रेणीमें पौद्गलिक देहको प्राप्त नहीं करता। इस प्रकार ज्यों २ आत्मायें ज्ञान-विकास पाती जाती हैं त्यों २ उच्च होती २ ऐसी अवस्थाको पहुंचती हैं जब मनुष्य देह में होने योग्य पूर्णात्म-विकासके क्षेत्रको प्राप्त करें।

आत्म विकास कहो या चैतन्य-ज्ञान विकास, एक ही बात है। जैन तत्वज्ञोंने इस विकासको पर्याय-श्रुत ज्ञानसे प्रारम्भ किया है और कैवल्यभाव तथा केवल ज्ञानमें समाप्ति बतलाई है। यह पर्याय श्रुत ज्ञान सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्य-पर्याप्तक जीवके होता है, अर्थात् कमसे कम इतना ज्ञान तो हमेशा निरावरण प्रकाशमान रहता ही है। अब यह देखना है कि यह पर्याय श्रुत ज्ञान क्या है। चैतन्यको सिर्फ़ अपनी सत्ताका सूक्ष्मतम आभास रूप बोध रहना ही पर्याय श्रुत है। ज्यों २ पर्यायें जीव धारण करता है त्यों २ यह बोध षड्गुणित हानि वृद्धिके हिसाबसे बढता जाता है। तात्पर्य कहनेका यह है कि तारतम्यसे ज्ञान विकासकी पर्यायें असंख्यात हैं और क्रमबद्ध हैं। मोटे रूपसे हम उनका उदाहरण देते हैं:—(१) वे पर्यायें जिनमें अस्पष्ट और सन्देह सत्ताका आभासमात्र ज्ञान हो (२) वे पर्यायें जिनमें

स्वसत्ता और स्वदेह का स्पष्ट ज्ञान हो। (३) वे पर्यायें जिनमें शीतोष्णादि का वेदन मात्र हो। (४) वे पर्यायें, जिनमे शीतोष्णादि के असर से आत्मा देह का सङ्कोच विस्तार करे। (५) वें पर्यायें जिनमें स्वदेह का तथा इसकी रक्षाका ख़याल और भय हो, एवं उपायमें प्रवृत्ति हो। (६) वे पर्यायें जिनमें स्वदेह पोषण रक्षणमें हलन चलनादि क्रियाओंसे एक व्यक्ति पिण्ड आप ही व्यापार करे। (७) वे पर्यायें जिनमे पर पिण्ड सत्वका बोध हो और लक्ष्य हो। (८) वे पर्यायें जिनमें एक व्यक्ति पिण्ड पर पिण्डोके सत्वोंसे सयोग करके स्वपोषण करे। (९) वे पर्यायें जिनमें सहज रूपसे अनेक जीव मिलकर रहें, खाद्य एकत्र करें, रहनेका स्थान बनावें जैसे कीट, मधु मक्खी आदि। (१०) वे पर्यायें जिनमें स्व-परघात विघात खूब हो और संरक्षण व्यवस्था साहज प्राकृतिक और वृद्धिंगत हो। (११) वे पर्यायें जिनमें स्वबुद्धिसे पोषण रक्षणके व्यापार हों, एवं देह रक्षार्थ हेयोपादेय की ज्ञान शक्ति हो जैसे हाथी, शेर वग़ैरह। (१२) वे पर्यायें जिनमें एक प्रकारका जाति संघटन हो जैसे हाथी, बन्दर वग़ैरह।

इत्यादि श्रेणियां सूक्ष्मसे सूक्ष्म पर्यायोंसे लेकर स्थूलसे स्थूल पञ्चेन्द्रिय असैनी और सैनीतक कई दर्जे क़ायम किये जा सकते हैं। इसमे सूत्र यह है कि हर-एक जीवको प्रत्येक श्रेणीमें स्वपिण्ड ज्ञान, फिर परपिण्ड ज्ञान, और परपिण्डोके साथ मिलकर स्वपिण्ड पोषण रक्षण एवं पर-पोषण रक्षण की चेष्टा का अभ्यास प्राप्त होता है; तथा स्वपिण्डके सुख दु ख और पर-पिण्डोंके सुख दु खका समीकरण बढ़ता जाता है। द्रव्य-क्षेत्र-काल और भावोंके परिवर्त्तनके साथ जीवन-गति करने की अभ्यास शक्तिका विकास होता रहता है। किसी भी विवक्षित श्रेणीमें उस श्रेणी योग्य इतनी योग्यता और सुख दुःखके सहनकी क्षमता प्राप्त हुए बिना कोई जीव आगेकी श्रेणीमे नहीं चढ़ता, पूर्व श्रेणीकी पर्यायोंमें ही जन्ममरण करता रहता है। जैन सिद्धान्तकारोंने अपने ज्ञानानुसार यह भी निर्णय किया है कि किस २ कायमे एक जीव कितनी बार जन्म मरण कर सकता है, अर्थात् कितने जन्ममरण के पश्चात् वह आगे की श्रेणीके प्रवेशार्ह होजाता है। इस तरह स्थावरोंको लेकर समस्त तिर्यञ्चों का हाल है।

अब मनुष्यो में भी उसी सूत्र को ले लीजिए। पहिली वह अवस्था है जिस में मनुष्य केवल प्राकृतिक जीवन मे रहते हैं। स्वपिण्ड का पोषण बिना चेष्टा के करते हैं, बुद्धि-का विकास इतना नहीं कि परिवर्तनशील हों और न पर व्यक्तियों से मिलकर सङ्घटन करते। प्राकृतिक बाह्य परिस्थिति एकसी होती है। सोच

विचार कुछ नहीं, कुदरती तोर पर इन्द्रियों ने या शारीरिक आवश्यकताओं ने अपना भोग मांगा वह उपस्थित पदार्थों से ले लिया। नर-देह विकास की प्रारम्भिक हालत यही थी जिसको भोग-भूमि कहते हैं। व्यवहार और व्यवस्था का नामोनिशान नहीं था, यानी आदिम मनुष्य नङ्गे रहते थे, फल जड़ी बूटी वगैरह खालेते थे, शरीर के वीर्य ने अपने आप जोर करके उपस्थ को विकृत किया तो स्त्री पुरुष सङ्गम कर लेते, यह अकृत्रिम जीवन था।

इस अवस्था में पूर्ण-विकास नहीं होता क्योंकि न तो पर मनु-पिण्ड सत्वों का बोध हुआ, न सङ्घटन हुआ, न जीवन-पोषण रक्षण का व्यापार हुआ। मानव देह के योग्य सुख दुःख का भोग, स्वास्थ्यचर्या, उत्सर्ग आदि कुछ भी गुण विकसित नहीं होने से इस परिस्थिति के मनुष्य उस पूर्णात्म विकास को जो जैन धर्म में केवलीभाव कहा जाता है और जो नर-देह में आत्म विकास की पराकाष्ठा है प्राप्त नहीं कर सकते। इसी लिए जैन धर्म में भोग-भूमि में मोक्षमार्ग और मोक्ष का अभाव माना है। मोक्ष-प्राप्ति कर्म-भूमि में ही होती है।

इससे इतने निष्कर्ष सिद्ध हो जाते हैं:—(क) जो मनुष्य व्यवस्था बनाकर समाज-सङ्घटन नहीं कर सकते अथवा व्यवस्थित समाज की प्रगतिशील परिस्थित के अङ्गीभूत नहीं होते, उससे दूर भागते हैं, वे मनुष्य पूर्णात्म विकास अर्थात् मोक्ष के अयोग्य हैं। उनको इस योग्यता-प्राप्ति के लिए पुनर्जन्म प्राप्त करना होता है, जैसे भोग भूमियों को। (ख) समाज-संघटन एवं समाजांग होने योग्य आत्म-शक्ति के धारक मनुष्यों में भी द्रव्य क्षेत्र काल और भाव की अपेक्षा से उतने ही असंख्यात दर्जे कायम होजाते हैं जैसे पशुओं में। (ग) मनुष्य कोई भी कर्म करे, परन्तु जबतक वह उस कर्म को स्वतन्त्र भाव से अपने को किसी विवक्षित समाज का अङ्ग समझ कर नहीं करता, तबतक उसका वह जीवन और कर्म समाज से सम्बन्ध नहीं रखता। अतएव वह समाज का अङ्ग भी नहीं और तदनुसार मोक्षार्ह भी नहीं। (घ) समाज सङ्घटन में स्वपिण्ड और परपिण्डों के सामुदायिक हित का नियामक सूत्र होता है। (ङ) जो सामाजिक सङ्घटन और व्यवस्था नियम इतने उदार और विशाल हों कि उनका लक्ष्य समष्टि के जीव मात्र का हित हो वही समाज और उसी के अङ्गीभूत व्यष्टि-प्राणी मोक्षार्ह हैं। इस समष्टि व्यापक हित-वृत्त से स्व-पिण्ड हित, कुटुम्बहित, जातिहित, देशहित इत्यादि दायरे नीची श्रेणी के हैं। इनमें स्व-पिण्ड हित को छोड़कर शेष सब उत्तरोत्तर पूर्ण-विकास की शक्ति प्राप्त करने की श्रेणियां हैं। जो जीव समष्टि यानी विश्व जीव समाज का अङ्ग होजाता है वह केवली है।

इतना समझ लेने पर जीवो का निम्न लिखित श्रेणीकरण और ध्यान में रख लेना होगा —(१) वे जीव जिनकी न तो ऐसी शरीर रचना है और न जिनके मन-बुद्धि इतने विकसित हैं जिससे वे सङ्गठन कर सकें (२) वे जीव जो सङ्गठन तो कर लेते हैं परन्तु जिनका शारीरिक और मानसिक विकास ऐसा नही जिससे परिवर्तन-शील प्रकृति को स्वानुकूल और अवस्था से अवस्थान्तर में परिवर्तित कर सकें। (३) वे जीव जिनकी शरीर रचना तो ऐसी है कि अवस्था से अवस्थान्तर कर सकें परन्तु मानसिक विकास ऐसा नहीं जो बुद्धि और विचार में परिवर्तित हो। (४) वे जीव जो दोनों ही प्रकार की योग्यता रखते हैं। इन मे के (१), (२), कोटि के जीव तिर्यञ्च गति के होते हैं; (३) कोटि वाले भोग भूमियाँ (४) कोटि में कर्म-भूमिज।

विकास-विवेचन के साथ जैन धर्म का यह सिद्धान्त कि 'कर्म-भूमि का मनुष्य ही मोक्षार्ह है' विशद करने योग्य है। इसका यह मतलब है कि जिस जीव ने ऐसे निर्माण की देह और मानसिक विकास को नही प्राप्त किया कि जिससे वह प्रकृति के पदार्थों को अवस्था से अवस्थान्तर करके जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति करे, वह देही मोक्षार्ह नहीं। पशुओं मे इसका अभाव है; भोग भूमियों में शारीरिक निर्माण है सही परन्तु मानसिक बुद्धि विकास नहीं यानी परिवर्तन-शीलता की मानसिक अयोग्यता है, इसलिये पशुओं से उच्च श्रेणी के हैं। कर्म-भूमि के मनुष्यों में दोनों बातें मौजूद हैं इसलिये वे मोक्ष-योग्य हैं। मनुष्यों में समाज रचना भी वहीं से शुरू होती है जब प्रकृति परिवर्तन के साथ २ मनुष्यों में भी परिवर्तन शीलता की उद्भूति होती है। इसीसे अपने २ क्षयोपशम के अनुसार असि मसि कृषि वाणिज्यादि का परस्पर में क्रम २ से अङ्गीकरण होजाता है और व्यवस्था बनती रहती है। हम ऊपर दिखला चुके है कि स्वतन्त्र भाव से समाजांग होनेसे जीव उच्चात्म विकास करता है अर्थात् मोक्षारोहणके योग्य होता है। यद्यपि समाज सङ्गठन पशुओ मे भी है परन्तु मोक्षार्ह नहीं क्योंकि शारीरिक और मानसिक रचनाओं में वह शक्ति नहीं जिससे अवस्था से अवस्थान्तर कर सकें।

अब पाठक गोत्र को भली भांति समझ लेंगे। जीव-शक्ति-विकास की जितनी भी असंख्यात श्रेणियां द्रव्य क्षेत्र काल और भाव के अनुसार हैं वे ही गोत्र हैं। उनमें परिवर्तन शीलता युक्त समाजांग की श्रेणियां उच्च गोत्र हैं और शेष नीच गोत्र। तात्पर्य यह है कि जीव की वह भाव और द्रव्य परिस्थिति जिससे परिवर्तन-शीलता-युक्त समाजांग होने की योग्यता का विकास न हो वह तो नीच गोत्र है

और इसके प्रतिकूल परिस्थिति उच्चगोत्र है। पशुओं में परिवर्तनशीलता का अभाव है वे नीच गोत्री हैं। मनुष्यों मे भाव और अभाव दोनों हैं इस लिए इनमें नीच और उच्च दोनों गोत्र हैं। देवो मे जैनधर्मानुसार इन्द्र सामानिक आदि व्यवस्थायें मानी गई हैं और सब देवों मे परिवर्तन शीलता विक्रियादि से मानी हैं अतः उनमें उच्चगोत्र कहा, नारकियो में समाज व्यवस्थाभाव से सर्वथा नीच गोत्र कहा। यहा इतना लक्ष्य में और रखलेना चाहिए कि कालचक्र के साथ ज्यों २ प्राकृतिक पलटाव होता है उसी के अनुसार गोत्र की परिस्थितियां भी बदलती रहती हैं। इसलिये जो परिस्थिति एक समय मे पूर्णोच्च समझी जाती है वही दूसरे समय मे अधस्तनी होजाती है। यही कारण है कि भोग-भूमियों को उच्च गोत्र ही कहा है, क्योंकि उस समय उनकी परिस्थिति से आगे की परिस्थिति का विकास नहीं हुआ था।

गोत्र शब्द की निरुक्ति भी यही है; गमयति अर्थात् गमन करावे यानी आत्मा को विकास करावे। जिस कर्म के उदय से जीव ऐसी भाव और द्रव्य परिस्थिति प्राप्त करे कि वह परिवर्तनशीलता युक्त सामुदायिक-हित-सूत्र-बद्ध समाज का अङ्ग हो वह उच्च गोत्र कर्म, इसके प्रतिकूल नीच गोत्र कर्म। इसमें 'सन्तान क्रमेणागय' की कोई बात ही नहीं। रही आचरण की बात, सो समाज-व्यवस्था का अङ्गी उच्चगोत्री सामुदायिक हिताचरणी होगा, यदि ऐसा नहीं है तो वह स्व-पिंड हितार्थु है, समाजाग नही, और नीच गोत्री है।

अब यहां यह और देख लेना है कि नीचगोत्रीके उच्चगोत्री और उच्चगोत्रीके नीचगोत्री सन्तान हो सकती है कि नहीं; एवं लोकमें हम जो यह देखते हैं कि खान्दानोंका असर होता है सो क्या बात है। माता पिताके रजोवीर्यका और उनके भावोंका अंश सन्तानोंमे जरूर देखा जाता है। इन सबका विवेचन भी ज़रूरी है।

हमने ऊपर दिखला दिया है कि विकास की परिस्थितिया अर्थात् गोत्र-श्रेणिया असंख्य हैं और वे द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावानुसार बदलती रहती हैं। प्रकृतिका नूतन विकास स्वाभाविक अनिवार्य है। इसलिये जो गोत्र-श्रेणी एक वक्त उच्च है वह दूसरे वक्त आगेके नवीन प्रकृति विकास होजाने से उन जीवोंके लिये नीच हो-जाती है जो अपनी परिस्थिति-व्यवस्थाको नवीन प्रकृति विकासके अनुकूल नहीं बनाते वा बना सकते। अतएव यदि किसी उच्चगोत्रीकी सन्तान नूतन विकासाभि-मुख होनेके योग्य है और विकास-कर्म्म-क्षेत्रमें प्रवेश करती है तो वह उच्चगोत्री है, यदि वह अवस्थित है तो नीचगोत्री है। इसी तरहसे अगर किसी नीचगोत्री की

सन्तति विकासाभिमुख है तो उच्चगोत्री है वरना नीच गोत्री। यह कैसे सम्भव होता है इसको हम नीचे अंश कल्पनाओं से साफ़ करते हैं।

जैन तत्वज्ञोने लेश्याओंके वर्णनमें स्वस्थान संक्रमण और परस्थान संक्रमण एवं मध्यांशोंके जो नियम दिये हैं वे नियम उच्चगोत्र और नीचगोत्र पर भी ठीक लागू होते हैं और आधुनिक विकास-सिद्धान्तसे मिल जाते हैं। एक जीवके किसी भी भाव वा गुणमें समय २ प्रति षड्गुणी हानि वृद्धि होती रहती है, अर्थात् किसी भी भावके चढ़ाव उतारकी अंश कल्पना करें तो उसमें एक स्थान मध्यम रहेगा। अब फ़र्ज़ कीजिये कि १ की संख्यासे लेकर १० तक तो नीचगोत्रकी उच्चोच्च विकास-श्रेणीके अंश है, १० से २० तक उच्चगोत्र की प्रारम्भिक श्रेणी है। २० से ३० तक दूसरी इत्यादि। अब एक उच्चगोत्री पिता जिसका १० से २० तकके अंशोंमें मध्यांश १५ है तो वह कभी १४, १३, १२, ११, १० पर भी आजाता है और कभी १६, १७, १८, १९, २० तक चला जाता है। कर्म्म सिद्धान्त और विकासवाद दोनोंके मुताबिक सदृश भावी सदृश भावोंको आकर्षण करता है। अतः इस १५ मध्यमांश-वाले जीवके तीन प्रकार की सन्तान सम्भव होती हैं; एक वह जिसका मध्यमांश तो १० के नीचे है जैसे ८, ९ आदिक परन्तु वृद्धि १० के ऊपर ११, १२, १३, तक होती है; दूसरा वह जीव जिसका मध्यांश १५ के उपरान्त है और वह २० की सीमासे उल्लङ्घन करके २१, २२, २३ वग़ैरह भी चढ़ जाता है और फिर मध्यम पर आता है, तीसरा वह जीव जो १० से २० तक में ही चढ़े उतरे। इसमें पहला जीव नीचगोत्री है। यदि इस पहले जीवके १० से नीचेके भावांशमें सन्तान हो और उसका मध्यम भी १० के नीचे ही हो तो वह पूरा नीचगोत्री होगा। इसी तरह उच्चगोत्री सन्तान की सन्तति भी समझ लीजिये। इस प्रकार दो तीन पुश्तोंमें तो ऐसा परिवर्त्तन हो-जायगा कि मूल पूर्वजसे उत्तरज क़तई भिन्न हो जायेंगे।

इसीसे पाठक समझ लेंगे कि माता पिताके रजोवीर्यसे प्राप्त मस्तिष्क, मानसिक तथा शारीरिक गुणोंमें सादृश्य एवं भिन्नता कितनी होजाती है। नीचगोत्रीके उच्चगोत्री और उच्चगोत्रीके नीचगोत्री सन्तति पैदा होती हैं जिससे शनैः २ लाखों उच्चगोत्री वंश नीच होजाते हैं और नीचगोत्री उच्च होजाते हैं। उच्चगोत्र और नीच-गोत्र किसी वंश वा जातिमें परम्परागत नहीं होता है। एक ही पिताके दो पुत्र ऐसे हो सकते हैं जिनमें एक उच्चगोत्री हो और दूसरा नीचगोत्री। गोम्मटसारमें 'संताण कमेणागय' पद गोत्रके वास्तविक लक्षणसे विरुद्ध है। हां, जीव का आचरण गोत्र का द्योतक है। परन्तु आचरण से मतलब पेशोंका नहीं। पेशेमें उच्च वा नीच गोत्रत्व

नही है। उच्च वा नीच गोत्रत्व मनुष्यके उन भावों और बाह्य निमित्तोंसे सम्बन्ध रखता है जिनसे वह जन समुदाय का अङ्गीभूत होकर स्वतन्त्र समावहित व्यापक दृष्टिसे पेशा करता है या नहीं करता। इसलिये एक ही पेशेमें कई जीव उच्चगोत्री होते हैं और कई नीचगोत्री। जो लोग किसी भी विशेष पेशेको नीच गोत्रीका और किसी दूसरेको उच्चगोत्री का कहते हैं वे एकान्तवादी हैं और अनेकान्तमय जिनधर्म्म का विपरीत स्वरूप समझे हैं और समझाते हैं। चाहे तो कोई क्षत्रिय हो और चाहे कोई नाई, धोबी, मोची, भङ्गी हो यदि वह अपना पेशा और जिन्दगी का हर एक काम व्यवस्थित समाज का अङ्ग होकर करता है और अपने को अङ्ग होने का अनुभव करता है, पर भय वा त्रास के वशीभूत कार्य नही करता, तो, वह जीव उच्च गोत्री है। वह जीव इसका पात्र है कि षष्ठ गुणस्थानी हो, मुनि धर्म ग्रहण करे और मुक्त हो। जो जीव व्यवस्थित समाज के अङ्ग होने का अनुभव नहीं करता किन्तु जीविका कर्म को स्वपिण्ड वा कुटुम्ब की व्यक्ति गत पृथक् दृष्टिसे करता है पराभिभूत होकर समाज का नियम पालता है वह नीचगोत्री है। वही स्वार्थी, कुकर्मी, अन्यायी, अत्याचारी, विषय लम्पटी होता है, क्योंकि उसकी दृष्टि अपनी ही ग़रज़ और रक्षा पोषण की तरफ है वह उदार और विशाल दृष्टि नही। ऐसे लोग हज़ारों हरएक देश, जाति में होते हैं और उनके आचरण नीच होते हैं यानी उच्च विकासी नही होते। भारत के हजारों क्षत्रिय ब्राह्मण वैश्य नीचगोत्री हैं, उच्चगोत्रत्व का उनमें लेशांश भी नही। और बीसियो नाई, धोबी कुम्हार आदि ऐसे हैं जो उच्चगोत्री हैं।

हमें यहां अब इतना और साफ करना रहा है कि जब नीचगोत्र और शूद्र दोनों पर्याय-वाची शब्द नहीं, तो शूद्र नीच क्यों समझे गये और पेशों से नीचता उच्चता का सम्बन्ध कैसे हुआ। एवं नाई धोबी आदिको में उच्चगोत्री जीवों की अधिक सम्भावना है या ब्राह्मणादि मे। इस शंका का उत्तर कर्म-भूमि की उत्पत्ति और तत्पश्चात् की सामाजिक व्यवस्था से होगा।

कर्म-भूमि के विकास में ज्यो २ कृषि आदि शिल्प विद्याओं का आविष्कार मनुष्यों में हुआ और उनके सहचर समाज संघटन हुए त्यों २ जो २ जीव भोग भूमि के प्राकृतिक जीवन को छोड़ कर अपनी २ बुद्धि और रुचि के अनुकूल परिवर्तनशील सामाजिक व्यवस्था में शामिल होगये, वे सब उच्चगोत्री थे, क्योंकि परिवर्तनशील थे, अवस्थान्तर करते थे और सामाजिक व्यवस्था के अङ्ग थे, स्वतन्त्र अपने आजीविका कर्म को करते थे। परन्तु जो भोग भूमिजों की सन्तान परिवर्तनशील न हुई

सङ्कुटन और समाज व्यवस्था में वद्ध न होकर स्वच्छन्द वनादि में ही विचरती रहीं नृशस होगई, उन्होंने अपनी उन्नति नही की वे नीचगोत्री रहीं। इतिहास इसका प्रमाण देता है कि वह मनुष्य जाति जो पहिले पहल सभ्य और व्यवस्थित हुई वह आर्य क़ौम थी। अपने समाज में सम्मिलित व्यक्तियों के अतिरिक्त अरण्य में अव्यवस्थित विचरने वाले अनुन्नत मनुष्यों को आर्य लोग म्लेच्छ कहते थे, और कुदरती बात है कि उनको घृणा की नज़र से भी देखते। ये म्लेच्छ लोग आर्यों की कृषि आदि आर्यों को हानि पहुंचाते थे, चोरी करके भाग जाते, इत्यादि उत्पात मचाते थे। शुरू शुरू मे तो व्यक्ति गत उत्पात होते थे फिर धीरे २ दलवन्दी से भी होने लगे। इसलिये समाज जीवनोपायों के विभागों को गुण कर्म स्वभावानुसार नियत मनुष्यों में वांटना ही आर्य लोगों को इष्ट हुआ। और म्लेच्छों के पकड़ने, मारने और दण्ड देने के लिये एक खास दल मुकर्रर करना पड़ा जो क्षत्रिय कहलाया। ये क्षत्रिय लोग म्लेच्छों को पकड़ २ कर अपनी बसतियों में लाने लगे और उन्हें अपने अन्य पेशे के भाइयो मे यथेच्छा तकसीम करने लगे। इससे क्षत्रियों की प्रतिष्ठा इनके अन्य कर्मी आर्य भाइयों मे दिन २ वढ़ती गई। परन्तु उस समय न तो क्षत्रिय लोगों ने अपने भाइयों को नीच समझा और न अवकाश मिलने पर अपनी रुचि के अनुसार खुद ने भी किसी पेशे का जारी रखना त्यागा। परन्तु इससे आर्यों की जाति विचित्र होगई। क्षत्रियों ने जब पकड़े हुए म्लेच्छों को दासों की तरह रखने के लिये सब पेशेवरों को सौंपा तो वे लोग उन दास म्लेच्छों से अपने काम कराने और आप चैन करने लगे, या मौका पाकर खुद भी क्षत्रियों में मिल गये। म्लेच्छ लोग आर्य जाति के अङ्गीभूत नही थे और न वे अपने को ऐसा मानते ही थे, आर्य लोग उनको नीच जलील समझते थे, मारपीट कर काम लेते थे, इस लिये जिन २ पेशे के कामों को म्लेच्छों से लिया गया, उनको लोग धीरे २ नीचों का कार्य समझने लग गये। आर्य लोग तो सिर्फ हुकूमत करते और मिहनत कराते म्लेच्छों से, मगर कर्म-भूमि की आदि में ऐसा हाल नही था। कुम्हार, तेली कृषक जुलाहे आदि सब आर्य थे, और म्लेच्छों के उत्पात पर वे सब मिलकर उन्हें मार भगाते थे, उस वक्त वे शस्त्र ले लेते थे। वापिस लौटने पर अपने २ काम में लग जाते थे। म्लेच्छों का और उनकी स्त्रियों को दास दासी रखकर काम लेते २ वह समय आगया कि आर्य लोग म्लेच्छ स्त्रियों से भोग विलास भी करने लगे और आर्य-म्लेच्छों का मिश्रण होगया तभी वर्ण और जाति व्यवस्था की जञ्जीरें वनाई गई क्योंकि आजीवतर की अपेक्षा इस बात की कोशिश होती ही रही कि आर्य जनता

शुद्ध रक्खी जाय। परन्तु यह पूरी तरह वन न पड़ा। और सैकड़ो पेशेवर आर्यवंश जो पहिले सब भाई बन्धु थे, वे अपने पूर्व-पेशो के जारी रखने से उन्हीं अधीन म्लेच्छो में मिल गये जो नीच पतित समझे जाते थे। परिणाम यह हुआ कि शुद्ध आर्य और अशुद्ध आर्य के भेद काटे दिन बदिन बढते ही गये। और आहिस्ता २ क्षत्रियों ने अपने प्रभुत्व बल और ब्राह्मणों ने अपने गुरुत्व बल से तीसरा वर्ण वैश्य का अलग कर दिया और वैश्यों ने भी शारीरिक परिश्रम करने वालों को अलहदा करके, शूद्र वर्ण चला दिया।

नीच और ऊच वर्ण वा जाति का संक्षेप में इतिहास है तो यह है जो ऊपर लिखा गया। इससे पाठक समझ सकते हैं कि पेशों में उच्चता वा नीचता नहीं थी, जब तक म्लेच्छों का समिश्रण आर्यों में नहीं हुआ था तबतक नाई, कुम्हार, तथा अन्य शिल्प के कार्य सब आर्य लोग अपनी २ रुचि के अनुसार करते थे, कोई किसी को नीच ऊंच नहीं समझता था। सब में समान बन्धुत्व व्यवस्था थी। बन्धुत्व व्यवस्था में उच्चगोत्रत्व है ही अत यह सब पेशे उच्चगोत्रियोंके थे। समाज व्यवस्था रहित म्लेच्छ लोग नीचगोत्री थे ही, इसलिये जब तक वे उस दशा में रहे और आर्यों के आज्ञाकारी होकर उनके कार्यों को करते रहे तबतक वे नीचगोत्री ही रहे। जब आर्यो मे वे गटपट होगये तब नवीन विकास होगया। उनमें से हज़ारों उच्च-गोत्री होगये, और हज़ारों दबे के दबे पड़े रहे वे नीचगोत्री रहे।

हम हमारे उपरोक्त कथन की पुष्टि मे पाठकों के सामने एक खास बात विचारणीय रखते हैं। इस वक्त भारत में हरएक जाति में उन्नति का चक्र चला है, सुनार, खाती, कुम्हार, लोहार आदि सब हिन्दू जातियों के शिक्षित लोग अपनी २ जाति की सभाएं करते है और प्रत्येक कौम अपना आदि पूर्वज क्षत्रिय को बताती हैं, उसका नाम तक जाहिर करती हैं और कई क़ौमें किसी ऋषि को मूल-पुरुष कहती है। क्या यह मिथ्या है? कभी नहीं, इसमें सत्य तथ्य है। वह यह कि, प्रारम्भ में हरएक पेशे का आविष्कर्त्ता अपना पेशा भी करता था और आवश्यकता पर म्लेच्छों से लड़ने को भी दल मे चला जाता था। इसी लिये हरेक पेशे के मूल-सञ्चालक और व्यवहारी क्षत्रिय कहे जाते हैं।

यहां तक के विवेचन से पाठक समझ गये होंगे कि शिल्पादि अथवा शारीरिक मिहनत के काम करने वाले शूद्र वर्ण की उत्पत्ति कैसे हुई और वह अप्रतिष्ठा की निगाह से क्यों देखा गया। अब रहा सवाल यह कि, ब्राह्मण क्षत्रियादि में उच्चगोत्रता की सम्भावना है उतनी ही शूद्रों में है क्या? इसका उत्तर यह है कि जो

जाति या जन समुदाय का व्यक्ति जबतक अपने को किसी अन्य जाति वा समुदाय से नीचा समझेगा और अपने कर्म यानी जीविका के कार्य को भी नीचा मानेगा, वह नीचगोत्री है। जिन जीवो पर दूसरो के बल से ऐसे संस्कार हैं वे नीचगोत्री हैं, जो ऐसे संस्कारो से छूट गये वे जीव उच्चगोत्री हैं। वह जीव अपने को मानव-समाजके अङ्ग होनेका अनुभव नही करता। हिन्दुस्थानमें सबल जातियां इस बात का हमेशा उद्योग करती रही है कि शूद्रोंमें ऐसा अनुभव न हो और उनको दबाया गया है। अन्य देशोंमें ऐसा हाल नहीं है। वहां भङ्गी भी अपने को उस समाज का अङ्ग समझता है जिसमें वह व्यवसाय करता है, हां स्वपिण्ड-स्वार्थं उसमें बढ़ा हो तो गोत्रके उपरोक्त लक्षणानुसार वह नीच रहेगा। हिन्दुस्थान की तवारीख़ और आधुनिक परिस्थितिसे यह कहा जा सकता है कि जो जातियां शूद्रोंके नामसे प्रसिद्ध हैं उनमे से बहुभाग स्पर्शो को छोडकर, शेष जातियोंमे ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यों की अपेक्षा उच्चगोत्री कम जन्म ले सकते हैं। परन्तु इसका यह मतलब नहीं कि उनमें उच्चगोत्री पैदा हो ही नहीं सकते। यह तो सर्वथा एकान्त और जैनधर्म्मके मूल सिद्धान्तके विरुद्ध है। इसके साथ यह और ध्यानमें रहे कि जिन जातियोंमें उच्चगोत्रत्व की विशेष सम्भावना है उनका बहुभाग उच्चगोत्रत्व खोता जारहा है और उनमे हज़ारों जीव नीचगोत्री होते हैं, उनमे उच्चात्मविकास का अभाव है क्योंकि परिवर्तनशील नही, अवस्थित हैं। भारतकी यह अवस्था सैकड़ों वर्षोंसे है। इसका विशेष हेतु हम नीचे विशद करते हैं।

हम इस बातको साफ़ खोल चुके हैं कि समष्टि की निखिल आत्माओं को अपना समझकर अपने वा किसी विशेष आत्मपिण्ड से राग द्वेष न रखना किन्तु जीवमात्रकी एक समाजका अनुभव करके मन वचन कायसे उसमे तन्मय होजाना पूर्णात्म विकास है। परन्तु इस पूर्णात्म-भाव विकार की प्रादुर्भूति मनुष्योंमे एक साथ नही हुई। क्रम २ से यह ज्ञान विकास हुआ है। अतः आर्यजनता की जिस परिस्थितिमें यह उच्चभाव विकास जिन ऋषियों द्वारा हुआ और जो लोग इसमें न बढ़ सके, स्वार्थवश पशुओं को तो क्या मनुष्यो को भी समानत्व का पद न दिया, यज्ञोंमें नित्य हजारों निर्बल प्राणियोंकी आहुति बलिदान करते ही रहे, सामाजिक-व्यवस्था रहित जो अनार्य शनैः २ आर्योंमें मिल गये थे, जो आर्यजातिके अङ्ग हो चुके थे, उनसे जीवनकी आवश्यकताओं की पूर्त्तिमें एकीभूत होनेपर भी नीच ऊँच का व्यवहार करके विश्वास-भावमें सम्मिलित न हुए, वे सब आर्य चाहे क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य किसी भी वर्ण के हों नीचगोत्री थे क्योंकि उच्च परिस्थिति से

विमुख अधःस्थिति में रहे। इन लोगों ने निर्बलों पर अपना अत्याचार जारी रक्खा और उनको भी उच्चात्म विकास से रोका और अब तक रोकते आरहे हैं। तथापि जो २ जीव इस विकास में शामिल होगये उनका दल भी बढ़ता गया, और जो शूद्र चढ़ते २ इस विकास योग्य होचुके थे वा होते जाते थे वे भी इनमें मिलते गये। परिणाम इसका यह हुआ कि एक समय वह आगया जब प्रत्येक वर्णों में और हरेक जीविका कर्म करने वालों में—भंगी से लेकर राजा महाराजाओं में यह विश्वात्म ब्रह्मविकास पहुंच गया और फैलता चला गया। अतः चतुर्वर्ण में उच्च और नीच-गोत्री दोनों ही प्रकार के जीव थे, जिन्होंने विश्वात्म ब्रह्मविकास की श्रेणी का अनुभव कर लिया, वे उच्चगोत्री शेष नीच गोत्री रहे। प्रत्येक वर्ण और जाति में ही ऐसे जीव नहीं थे किन्तु घर २ में दोनों ही प्रकार के नर नारी होगये थे, कोई उच्चविकासी उच्चगोत्री और कोई अध्यात्म शून्य कर्मकाण्डी, हिंसक एवं निर्बल पीड़क नीचगोत्री। बौद्ध और जैनों ने इस विश्व-जीव समाज की व्यवस्था कायम की और इसको बृहदाकार में प्रगट किया। जीव मात्र के समान-जीवन-सत्व की फिलासफी पर समस्त कर्म-काण्ड का परिशोधन हुआ, और इसी के अनुसार व्यवहार होना शुरू होगया। जिस तरह प्रारम्भ में म्लेच्छ और आर्यों में झगड़ा रहता था उसी तरह अब इन दो दलों में होने लगा। एक वे जो जीवमात्र को समान समझते थे, और दूसरे वे जो ऐसा नहीं समझते थे, और इस प्रकार के आचरण करने वालों से घृणा करते थे और स्वार्थ-वश उनको बल से भी दबाते थे। एक अर्से तक यह कुश्ती होती रही, बौद्धों और जैनों ने विजय पाई। ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र चारों ही वर्णों के लोग जैन सङ्घ में थे, सब मोक्षमार्ग का अनुसरण करते थे, श्रावक और मुनि धर्म्म का पालन करते थे। परन्तु फिर काल चक्र फिरा, स्वार्थियों का जोर बढ़ गया, बौद्ध और जैन खदेड़ २ कर सताये जाने लगे, इन पर ऐसे २ घोर अत्याचार और अन्याय होने लगे कि इन लोगों का भारत में जीना मुशकिल होगया। ज़बरदस्ती इन लोगों से वे कार्य कराये जाते थे जो इनके उच्चात्म-विकास के विरुद्ध थे। चूंकि ये लोग शूद्रादि को भी उच्चविकासी करते थे और उनसे घृणा रहित समान—सह धर्मि-वत्सलय के व्यवहारी थे इस लिये इन लोगों का कुओं पर पानी पीना भी बन्द कर दिया गया था। गरजे कि परबल-वशी भूत होकर बौद्ध लोग तो भारत में रहे ही नहीं, और जैन भी प्रायः कम होते चले गये। जो रहे सहे बचे उनको अपने धर्म कर्म के सिद्धान्तों को बदलना पड़ा और अपनी आचार विचार की व्यवस्था उन हिन्दुओं की प्रसन्नता के अनुकूल

बनानी पड़ी जिनमें इनको रहना था। यद्यपि जैन और बौद्ध दब गये, तथापि वह उच्चात्म-विकास दब नहीं सकता था, अतः दुनिया के कई हिस्सों में वह पहुंचता ही रहा। भारत मे भी कई वार उथला पथली होती ही रही। विजातियों ने आकर समान व्यवहारकी शिक्षा शस्त्रवल तथा शासनवल से हिन्दुओंको वार२ दी यह प्रत्यक्ष इतिहास से हो ही रहा है। परन्तु जैन लोग दबकर फिर अपने को न सँभाल सके और हिन्दुओं में रलते ही गये। अत यह स्पष्ट कहना पड़ता है कि आधुनिक भारत में जो जन-समुदाय इस योग्य हैं कि उनमें उच्चगोत्र रहे और ऐसे ही जीव पैदा हों वे नीच गोत्री होते जाते हैं।

यहां यह कह देना भी उचित होगा कि जैनाचार्यों ने गांवों के गांव जैनधर्मी बनाये और उनको विश्वात्म-धर्माचारी किये। समय की ज़ुरूरत से उन्होंने उनकी एक ज़ाति क़ायम कर दी। खँडेलवाल, ओसवाल आदि कई जैन जातियों का इतिहास यही कह रहा है कि इन लोगों में चांडाल से लेकर क्षत्रिय तक शामिल थे और वे सब एक जाति में होकर जैनत्व के सूत्र से वद्ध हुए। ओसवालों मे चण्डालिया, जरगड तथा सरावगियों मे सोनी आदि गोत्रों की जांच कीज़िये सब प्रतीत हो जायगा। हां, एक वात अवश्य होती थी; बहुत से पेशेवर लोग कि ज़िनको हिन्दू लोग अत्यन्त ही नीच वा अस्पर्श समझते थे वे लोग इन जैनसङ्घो की ज़ातियो मे मिलकर अपना साबिक़ पेशा छोड़ देते थे, नवीन कोई वाणिज्य करने लग जाते थे। इसका कारण यह था कि उस वक्त हिन्दुओंका बल इतना था कि यदि जैनी ऐसा न करते और अपना २ पेशा करते हुए सबमें समान धार्मिक व्यवहार निभाते तो हिन्दू लोग इनको नोच २ कर उड़ा देते इसलिये गृहस्थों मे तो प्रायः पेशे एकसे ही होते चले गये। मुनियों ने अपने में हर किसी पेशे वाले को ले लिया, चाहे वह भङ्गी हो वा शिल्पकार, वणिक, क्षत्रियादि; क्योंकि मुनिसङ्घ विहार करता रहता था। उसको स्थानीय हिन्दुओं की स्थिर ज़बरदस्ती नहीं सहनी पडती थी।

जब से जैनों में श्वेताम्बर, दिगम्बर पक्ष का भेद हुआ और दिगम्बर आम्नाय की व्यवस्था दक्षिण के मुनि सङ्घ और आचार्यो के अधीन बनी तभी से शूद्र को मुनि दीक्षा देना बन्द होगया। क्योंकि दक्षिण में ब्राह्मणों का इतना प्रबल प्रभाव था कि यदि ब्राह्मण मार्गमें जाता हो और शूद्र आजाय तो शूद्र को जमीन पर घुटनों के बल चलना पड़ता था जिससे ब्राह्मणदेव पर उसकी छाया न पड़े। अब भी कहीं कही ऐसा व्यवहार परम्परा से चलता ही है। जैनाचार्यों ने जब अपने प्रचार का कार्य्य दक्षिण में किया तो उनके लिये यह सर्वथा असाध्य था कि वे शूद्र को जिन-

दीक्षा देकर अपने में मिला लेते और वैसे ही पूजा प्रतिष्ठा का अधिकारी बना देते जैसा कि इतर वर्णीय को। अगर वे ऐसा करते तो मिशन चलना तो कहां उनका जीना भी कठिन होजाता। इसलिये ही यह व्यवहार व्यवस्था बन गई कि शूद्र को क्षुल्लक वगैरह तो बना लिया जावे परन्तु मुनि और षष्ठ गुणस्थानी न कहा जावे और वह अपने भक्ष्य को अलहदा ही ले। यह व्यवस्था चल जाने पर शूद्र को मुक्ति का निषेध कहने लग गये। श्वेताम्बर लोगों का प्रसार गुजरात से आगे नहीं बढ़ा, दक्षिणके कट्टर ब्राह्मणों से अभिभूत होने का मौक़ा श्वेताम्बराचार्यों को नहीं आया; इसलिये यह लोग शूद्रों को पहिले की तरह दीक्षा देते रहे। परन्तु ज्यों २ हिन्दुओं का बल बढ़ता गया, जैन बल हत होगया त्यों २ जाति पाति और छूताछूत जाति का रोग क्या श्वेताम्बर और क्या दिगम्बर दोनोंमें लग ही गया जो आज तक मौजूद है। अन्यथा धार्मिक व्यवस्था में इनका कुछ सम्बन्ध ही नहीं था।

अब तक जो कुछ हम कह आये हैं उससे पाठक अच्छी तरह समझ गये होंगे कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये शब्द करणानुयोग और कर्म तत्वज्ञान की चर्चा मे क्यो नही मिलते और गोम्मटसार अथवा कर्म ग्रन्थ में जो गुणस्थान और बन्धोदय आदि की नियम व्यवस्था है उसमें इन व्यावहारिक शब्दों का प्रयोग क्यों नही है, एवं श्वेताम्बर तथा दिगम्बर दोनों आम्नायों में नीच गोत्र में गुणस्थान तो पाच मानते हैं परन्तु एक तो शूद्रको षष्ठ गुणस्थानादि क्यों कहता है और दूसरे उसका निषेध क्यों करते हैं। कर्म तत्व के सिद्धान्त में कुछ फ़र्क नही आया, वह सिद्धान्त यही है कि उच्च और नीच गोत्री प्रत्येक वर्ण और जाति में होते हैं और रहेंगे। जो उच्चगोत्री हैं वे मुक्त हो सकेंगे, नीच गोत्री देशव्रती तक ही चढ़ते उतरते रहेंगे। इसलिये यह भी न समझना चाहिये कि हरएक क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य तो मोक्ष का अधिकारी है ही, क्योंकि उनमें भी नीचगोत्री होते हैं और न यह एकान्त पक्ष धारण करना चाहिये कि शूद्र को छट्ठा गुणस्थान वा मुक्ति नही हो सकती क्योंकि शूद्रों में भी उच्चगोत्री होते हैं। बेशक, उच्चगोत्री मोक्षाधिकारी हैं, नीच-गोत्री नहीं।

अतः दिगम्बराम्नाय के चरणानुयोग में शूद्रोंको मुक्ति-निषेध की जो व्यवस्था बांधी है और शूद्र क्षुल्लकों के अलहदा बैठकर एक लोहे के पात्र में आहार लेने की रीति पर आग्रह है वह पीछे के आचार्यों का अपने देश और समय के अनुसार चलाया हुआ व्यवहार है न कि जैनधर्म का विश्व-व्यापी कर्म सिद्धान्त।

हठ-धर्मी लोग जैनधर्म के सार्व मोक्षमार्ग को चाहे किसी एक ही जाति, वर्ण, देश, प्रान्तमें उनकी इच्छानुसार सीमाबद्ध करलें, और चिरकाल से दब २ कर चाहे अपने असली सिद्धान्तके उत्थानसे विमुख होजायँ, इससे किसी का वश नहीं। परन्तु गोत्रकर्मका लक्षण परम्परागत वशोंकी लोक पूज्यता वा अपूज्यतासे कहना और यह मानना कि चाहे कोई कैसा भी पाप का आचरण करे यदि वह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य नामधारी कुलमें जन्मा है तो उच्चगोत्री ही है और शिल्पकार शूद्रादि चाहे वे कैसे ही उत्तम पुण्याचारी हों वे नीचगोत्री ही हैं, सर्वथा प्रकृतिके विरुद्ध है और जैनधर्मके उस गोत्रकर्मसे जो आत्म-विकाससे सम्बन्ध रखता है कतई नहीं मिलता।

अब हम कुछ बातें उन लोगोंके उत्तरमें कहते हैं जो सर्वथा एकान्त हठ पकड़े हुए हैं और यही कहते हैं कि उच्च और नीचगोत्रके वंश अनादिसे चले आरहे हैं और आचरणोंसे वर्णपर कुछ असर नहीं पड़ता, अर्थात् वर्ण तो जन्मसे है गुण कर्म स्वभावसे नहीं, एवं विशेष वर्णी ही मोक्षाधिकारी है अन्य नहीं।

१—भारतकी प्रत्येक जातिके इतिहासको देखिये और विशेषकर जैनजाति के खण्डेलवाल, सरावगी, ओसवाल आदिकी उत्पत्ति को देख लीजिए उनमें शूद्र थे कि नहीं, यदि थे तो वे उच्चगोत्री थे कि नीचगोत्री। और वे तथा उनकी सन्तानें वैश्य वर्णकी कैसे होगईं। एव जो लोग उनमें क्षत्रिय थे वे अब क्षत्रिय हैं कि वैश्य; यदि क्षत्रिय नहीं हैं तो आचरणसे वर्ण बदला कि नहीं। जैसे उनका वर्ण बदल गया वैसे शूद्रका भी वर्ण बदल सकता है। अतः क्षत्रियसे जो वैश्यमें आगये, वे उतरते २ शूद्रोंमें भी आ सकते हैं। ऐसी दशामें लोक-पूज्यता एक वंशमें अनादि निधनता कहां रहेगी और रही है। कहीं न कही हद तो बांधनी ही पड़ेगी और जहां हद बांधेंगे वहां हमने जो ऊपर खूब खोल २ कर गोत्रकी व्याख्या करदी है प्रमाणित हो जायगी। आदिपुराण का वर्ण लाभ संस्कार क्या कहता है उस को तो सोचें।

२—हम तो साफ़ कह चुके हैं कि उच्चगोत्री ही मोक्षाधिकारी है, नीचगोत्री नहीं, परन्तु उच्चगोत्रत्व किसी विशेष वर्ण वा पेशेसे सम्बन्ध नहीं रखता। इसमें सिद्धान्त से लेश भी विरोध नहीं है, विरोध है उस एकान्त व्यावहारिक हठसे जो किसी विशेष समय और विशेष आचार्य की पद्धति पर की जाती है और उसी को सर्वज्ञ कथित माना जाता है।

३—'सन्तान क्रमेणागय' पदसे तो देव नारकियोंमें उच्च नीच गोत्रत्व हो ही नहीं सकता। वे सन्तान किसी की हैं ही नहीं। हा सन्तान क्रमागत पदको छोड़-कर यह माना जाय कि जो जीव व्यवस्थित समाज सङ्गठनमें विकास कर सकते हैं और करते हैं वे उच्चगोत्री हैं तो देव उच्चगोत्री हैं ऐसा हमने जैन कथा पुराणों की लिखी हुई देवोंकी व्यवस्थानुसार ऊपर स्वीकार किया है।

४—हम गोत्र कर्मको हरएक देश, मनुष्य समुदाय, एवं प्राणीमात्रमें मानते हैं जैसा ऊपर सिद्ध कर दिया है। भारतके बाहर चीन, जापान, इङ्गलेण्ड, अमेरिका आदि सब देशोंमें नीच उच्च गोत्री जीव मौजूद हैं। जो समाजाग भूत नहीं हैं और स्वपिण्ड स्वार्थाचारी व्यवस्थित भावी हैं वे नीचगोत्री सर्वत्र हैं और वे मोक्षा-धिकारी नहीं।

५—जो लोग मुसलमानोंके सैय्यद आदिका दृष्टान्त देते हैं वे अपने कथनसे स्वयं अपने आप विरोधी होजाते हैं। मुसलमान धर्मके प्रवर्तक मुहम्मद साहबके खान्दान और साथी लोगोंको उन्होंने सैय्यद कहा था और नबीके सम्बन्धी तथा आल औलाद उस वक्त मुसलमानोंके अगुआ होनेसे मुसलमान लोगोंमें पूज्य सम-झते थे। वही व्यवहार चल पड़ा। जिन लोगोंने मुहम्मद साहबकी मदद की, बहा-दुरी दिखलाई उनको भी उन्होंने सैयद बना दिया जैसे आजकल खिताब दे देते हैं। उसके पहले वे लोग न सैयद थे न लोकपूज्य। जैसा कर्म्म किया इज्जत पूज्यता पाली। मुहम्मद साहबने यह नहीं कहा कि सैयद ही को तो जन्नत नसीब होगी और मुगल पठानोंको नही। उन्होंने तो साफ़ यह कह दिया कि कोई भी हो जो इस्लामी होगा वही खुदाका प्यारा बहिश्त पावेगा। मुहम्मद साहबने लोक पूज्य कुलपर इस्लाम धर्मकी मोक्षको निर्भर नही रक्खा। भङ्गी, चमार, धोबी, सैयद, शेख कोई भी हों साफ़ सुथरा होकर वुजू करलें और साथ २ जमाअत की नमाज़ पढ़ें, रोजा वगैरह रक्खें, सब इस्लामी मोक्ष पा सकते हैं।

यही हमारा कहना है कि ब्राह्मण हो चाहे शूद्र, यदि वह शुद्ध भावी, पुण्या-चारी है तो उच्चगोत्री है अर्थात् उच्चात्म विकासकी उस स्थिति पर है जिससे वह मोक्षारूढ़ हो सकता है जो सत्य बोलता है, इन्द्रिय निग्रह करता है, हिंसा नही करता वा उसके त्यागसे विरति का अभ्यास करता है, निर्भय स्वावलम्बनसे आजी-विका का उपाय करता है, इत्यादि अनेक उच्चात्म विकास का गुणस्थित व्यक्ति मोक्षार्ह गुणस्थानों को पा सकता है वह मुनि भी हो सकता है, वह उच्चगोत्री है, नीच नहीं। वह किसी भी पेशेका करनेवाला हो, किसी का भी बेटा हो, उसको मोक्ष प्राप्तिके गुणस्थान चढ़नेमे लोक की पूज्यता अथवा अपूज्यता कुछ नहीं कर-

सकती। उसको न लोक पूज्यतासे मतलव न अपूज्यता-से। लोकमें पापी हिंसक व्यभिचारी यदि सबल और प्रभुत्व पाकर पूज्य होजाते हैं तो क्या वे उच्चगोत्री हैं कदापि नहीं। यह लोगों की मर्ज़ी पर है कि वे अपने खान पान विवाह आदि करने का समुदाय सकुचित करलें वा वढ़ाले, मनुष्य मिलकर ऐसा कर सकते हैं कि वे एक ही ग्रामवालोंमे अपने लौकिक व्यवहार करें, या किसी खास कूपका पानी पीनेवालों में ही अपना खाना, पीना, व्यापार, व्यवहार सीमावद्ध करलें, अपने सुभीते और लौकिक परिस्थिति से उन्ही को पूज्य समझें, पदविया दें। परन्तु मोक्षके ठेकेदार वे नही हो सकते। मोक्षका सिद्धान्त व्यवहार लोकके व्यवहारसे भिन्न है। यही तो कारण था कि जैनोंके आचार्योंने मुनिसङ्घमे तो शूद्रोंको ले लिया, परन्तु गृहस्थोंमे उनको मिलाकर एक पेशेके वना दिये। ऐसा न करते तो सङ्घ विस्तार का कार्य रुक जाता। वे उस समयके लानेका उद्योग कर रहे थे जिसमें अन्यायो नीच गोत्रियों का वल घट जाय और सार्वधर्म्म मोक्ष व्यवस्था स्वतन्त्र चल सके। वीच २ उनको अन्यायियोंके भयसे अपने सिद्धान्तों को भी वदलना पड़ा। यह भी उनका भाव तर था, उनकी आत्माएँ ही जानें कैसे इन दुःखों को उन्हें सहना पड़ा होगा। दक्षिण, मद्रास, आरकट, ट्रिचनापाली आदि प्रान्तोंमें इसके ऐतिहासिक प्रमाण मौजूद हैं कि जैनाचार्योंने शूद्रोंको जैनी वनाकर ब्राह्मण के कर्म्म सिखा दिये और वे जैनी ब्राह्मण हिन्दू ब्राह्मणों के मुकाबिले में धीरे २ खड़े होगये। परन्तु संख्याकी न्यूनता और हिन्दुओंके प्रावल्यसे मिशन सफल नही हुआ। यदि उनका मिशन जारी रहता तो वे अपने वनाये हुए चरणानुयोगके व्यवहार को मौक़ा पाकर वदल डालते और शूद्रोंको वैसे ही मुनि वनाने लगते जैसे उनके पूर्वज करते थे और जिस तरहसे श्वेताम्वर सङ्घमे वैसा होता रहा। अतः मुहम्मद साहव के सैयद वा ईसाइयोका प्रमाण देनेवाले अपने हठका आप ही खण्डन करते हैं सो ठीक ही है।

ईसाइयों के विषय में भी कुछ सुन लीजिए। ईसा खाती के लड़के थे, उनके बाप की लोक में पूज्यता खाक भी नही थी; इञ्जील में आधुनिक ईसाइयों ने अपने इष्ट देव मसीह का दुनयावी महत्व दिखलाने के लिये वावा आदम से पीढ़ियां मिलाई हैं। परन्तु हां, ईसा का बाप सतोगी धार्मिक आदमी था यानी उच्चगोत्री था। ईसा ऐसा हुआ कि जिसके नाम पर आज दिन क्रोडों आदमी सिर झुकाते हैं। ईसाइयों मे भी वही सिद्धान्त है किसी भी कुल वा पेशे का आदमी, लोक पूज्य वा अपूज्य ईसा का भक्त होने से ईसाई मुक्ति प्राप्त कर सकता है। ईसाई लोगों में गोरे ईसाई कालों को अपनी सोसाइटी मे शामिल नहीं करते, उनसे खान पान

विवाह नहीं करने अपनी समाजमें कालोंका उतना आदर नहीं करते जितना गोरोंका करते हैं, यह उनकी लौकिक बात है। पर वे यह नहीं कहते कि काला ईसाई मुक्ति के योग्य नहीं, वे यह नहीं कहते कि भङ्गी ईसाई ईसा के निर्दिष्ट मार्ग पर चलने से उसी जन्म से मोक्ष न पावेगा। चाहे भङ्गी का काम उनको अपने काम से नीचा दीखे, बुरा मालूम हो, परन्तु ईसाई-मोक्षत्व में वह बाधक नहीं माना जाता। यही जैन धर्म्म मे है। समाजिक व्यवहार में जी चाहे सो नीचा ऊँचा समझो अपनी मर्ज़ी है, परन्तु सहधर्मि वात्सल्य में कुछ भेद नहीं, सामाजिक व्यवहार में इज़्ज़त न पाने से कोई भी उच्च विकासी जीव षष्ठ गुणस्थानी वा मुक्त होने से रोका नहीं जा सकता न रुकेगा ही। खयालों में जी चाहे सो मानो।

ईसाइयों ने अपना धर्म प्रचार करके सैकडो नृ-भुक जातियों को मनुष्य खाने के पास से छुडाया, चोरी आदि करना रुकवाया, उनको सामाजिक व्यवस्था बना कर रहना सिखाया, अर्थात् नीच गोत्रियों को उच्चगोत्री बना दिया। यही महान् पुण्य का कार्य जैनों का हो चुका है। हम ने ऐतिहासिक खोज करने वालो की पुस्तकों में पढ़ा है कि जैनी लोगों का धर्म-मिशन एक समय अमरीका * तक में पहुंचा था और वहां के वासी भी जैनी होगये थे। बौद्धों और जैनों के मन्दिर भी टूटेफूटे वहां जमीन मे से निकले हैं। इन बातो से हमको भी यही प्रतीत होती है और सिद्धान्त उसका प्रत्यक्ष साक्षी है कि जैनों ने सामाजिक व्यवस्था रहित नीच-गोत्रियों की आत्माओं को विकास योग्य उपदेश और शिक्षा की और जो उनमें व्यवस्थित उच्च गोत्री होगये उन सब को चतुर्विध श्रीसङ्घ के साम्राज्य मे यथा-योग्य मिला लिया, मुक्ति प्राप्ति की स्वतन्त्रता देदी जैनी लोग ईसाइयों से सहस्र गुणित उदार थे, उन्होंने आर्य, अनार्य, भील, म्लेच्छ, वा पेशे के लिहाज़ से किसी को मुनि सङ्घ में मिलकर मुनियों की लौकिक पूज्यता प्राप्त करने से न रोका। इस लिये सब को जिन लिंगी दीक्षा देते रहे। परन्तु जब अत्याचारियों का ज़ोर बहुत उठा तब दब कर जैनाचार्यों ने अवसर के मुआफ़िक व्यवहार बरतना शुरू किया। आज उसी पर हठ करके जैन लोग अपने धर्म को एकान्ती बनाये हुए हैं और प्रकृति के प्रतिकूल स्वयं नीचगोत्री होते जाते हैं। यही तो सबब है कि इस वक्त के जैनी षष्ठ गुणस्थानी प्राय हैं ही नहीं क्योंकि उच्चगोत्राभाव है।

हम आशा करते हैं कि इस लेख के उच्चगोत्री पाठक अपने नीचगोत्री जैनों को उच्चगोत्री बनावेंगे और महावीर के उच्चगोत्र विकासी मिशन का प्रचार करेंगे।

---

* फुट नोट—अलीगढ निवासी बाबू प्यारेलाल वरीठ जमीदारकी बनाई हुई "जोहरे तहकीकात" नामका पुस्तक को पाठक पढ़ें। उसमें इसका प्रमाण है।

* नवीन पुस्तकें *

स्त्री-मुक्ति।

इसमें एक दिग्गज विद्वान् ने दिगम्बर जैन-शास्त्रों से तथा युक्तियों से यह सिद्ध किया है कि स्त्री को भी मुक्ति हो सकती है। कीमत ।)

शूद्र-मुक्ति।

इसमें दिगम्बर जैनशास्त्रों तथा प्रबल युक्तियों से यह बात भली भाति सिद्ध की गई है कि शूद्र को मुक्ति होती है और शूद्र के लक्षण तथा उच्च और नीचगोत्र की बहुत उत्तम व्याख्या की गई है इसको एकबार अवश्य पढ़िये। कीमत =) आना।

पद्मपुराण समीक्षा।

इसमें यह सिद्ध किया है कि पद्मपुराण वालमीकि रामायण की नक़ल है। कीमत ॥-)

हरिवंशपुराण समीक्षा।

इसमें हरिवंशपुराण की संक्षिप्त कथा लिखकर फिर उसकी समालोचना की गई है। की० ।)

आदिपुराण समीक्षा।

(प्रथम भाग)

इसमें जिनसेनाचार्य्य लिखित आदिपुराण के पूर्वार्द्ध की समालोचना है। कीमत ।)

आदिपुराण समीक्षा।

(द्वितीय भाग)

इसमें गुणभद्राचार्य्य लिखित शेष आदिपुराण की समालोचना है। कीमत ।-)

वर्ण और जातिभेद।

इस विषय की मनन करने योग्य उत्तम पुस्तक है। कीमत =)

नकली और असली

धर्मात्मा।

यह बा० सूरजभानुजी लिखित दो सौ पृष्ठों का एक बहुत ही हृदयग्राही, सत्यतापूर्ण, सामाजिक चित्रों का आदर्श, धर्म का सच्चा स्वरूप बताने वाला उपन्यास है जिसको प्रारम्भ कर फिर छोड़ने को जी नही चाहता है, इसको पढ़कर प्रत्येक व्यक्ति लाभ उठा सकता है। की० ॥)

ब्राह्मणों की उत्पत्ति।

आदिपुराण में जो ब्राह्मणों की उत्पत्ति लिखी है उसपर इसमें विचार किया गया है तथा वर्ण व्यवस्था पर भी विचार है। कीमत =)

श्रीपालचरित की समालोचना।

मि० वाडीलालजी लिखित गुजराती लेख का हिन्दी अनुवाद। इसे एकबार अवश्य पढ़ियेगा। कीमत =) आना।

ग्रन्थ परीक्षा।

(प्रथम भाग)

पं० जुगलकिशोरजी लिखित। इसमें उमास्वामि श्रावकाचार, कुन्दकुन्द श्रावकाचार और जिनसेन त्रिवर्णाचार के परीक्षा लेखों का संग्रह है। कीमत ।=) आना।

ग्रन्थ परीक्षा।

(द्वितीय भाग)

इसमें भद्रबाहु संहिता की समालोचना है। कीमत ।) आना।

विधवा कर्त्तव्य।

इसकी प्रशंसा भारत के सभी समाचारपत्रों ने की है। उक्त विषयकी बहुत ही उत्तम पुस्तक है आप पढ़िये और विधवा स्त्रियों को पढ़ाइये या सुनाइये। कीमत ॥) आना।

पताः—मैनेजर "सत्योदय" इटावा ETAWAH.